



# जैन सांस्कृतिक चेतना



लेखिका

डॉ. भीमती कुम्भकर्णी जैन

एम. ए. (हिन्दी, भाषाविज्ञान),

पी-एच्. डी. (हिन्दी, भाषाविज्ञान),

प्राध्यापिका, हिन्दी विभाग,

एस. एच. एस. कॉलेज,

नागपुर (महाराष्ट्र)

तन्मति विद्यापीठ, नागपुर

1984

II)

## प्रकाशक

वीन संख्यांक—3  
साम्प्रदायिक संवाचक  
डॉ० आनन्दराम वीन भास्कर

आजोके भास्कर  
सचिव, सम्प्रति विद्यापीठ  
न्यू एक्सटेंशन एरिया,  
सबर, नावपुर  
440001

❶ डॉ. वीवली पुष्पमत्ता वीन  
प्रथम संस्करण—मार्च, 1984  
Price—Rs. 40 .00

### प्राप्ति-स्थान

(i) सम्प्रति विद्यापीठ  
न्यू एक्सटेंशन एरिया,  
सबर,  
नावपुर—440001

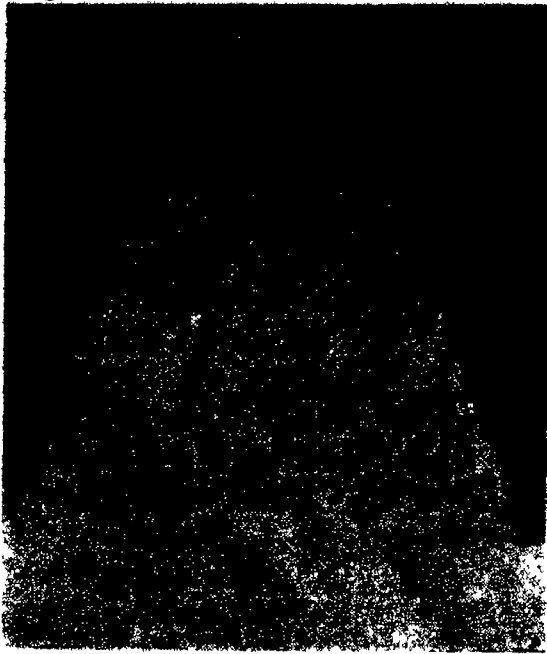
(ii) मोतीलाल बनारसीदास  
बेंबलो रोड, जवाहर नगर,  
नई दिल्ली—110007

(iii) आनन्दचरण वीन एवं संसति  
466/2/21, दरियाबांच,  
दिल्ली—110006

(iv) सुपति काहिल्य कवन  
944, नई दिल्ली,  
मुद्रणालय, जवाहर नगर,  
दिल्ली—110006

---

मुद्रक:—डॉ. एच. कम्पोजिन सेक्टर, मनीद्वारों का रास्ता जवापुर, 302003,



अध्यात्मिक व परोपकारात्मा  
स्व. मायी जी की पुनीत स्मृति में  
विनम्र अर्पणम्

## परीचाक

जैन साहित्य और संस्कृति में एक लम्बे समय के भारतीय संस्कृति के विकास के सम्बन्ध-बोधकाय किया है। इसके में दोनों-जोन मिलकर और प्रयत्न हैं। जैन-बन्धी-विश्वों में ऐसी कोई विधा नहीं छोड़ी जिस पर उन्होंने अपनी महत्वपूर्ण ज्ञानवी-क-बसाई हो।

प्रस्तुत कृति में हमने जैन धर्म के इन दोनों तत्त्वों के कुछ पहलुओं पर प्रकाश डाला है। जैन साहित्य की परम्परा की एक एक संक्षिप्त-सम्बन्धों के साथ ही उपस्थित किया है। वहाँ हिन्दी साहित्य को इसलिए जोड़ दिया है कि उस पर हमने "हिन्दी जैन काव्य प्रकृतियों" शीर्षक पुस्तक में 'पृथक् रूप से ही' विचार-विचार है। इसके बाद कुछ जैन दर्शन और सत्य-साधना के मुद्दों पर प्रकाश डाला। बाद में 'नारी धर्म-वेतना' अध्याय में नारी की कतिपय समस्याओं को व्यावहारिक दृष्टि से समझने-समझाने का प्रयत्न किया है। आशा है, विद्या पाठक इन विचारों पर सहानुभूति और सहिष्णुता पूर्वक विचार करेंगे।

इस पुस्तक में मैंने अपने कुछ विचारों को भी समाहित कर दिया है। सम्मति विद्यापीठ इसे 'जैन सांस्कृतिक-वेतन' के नाम से प्रकाशित कर रहा है। तब ही हम उसके आभारी हैं।

(डॉ.) जीमती पुष्पलता जैन  
मानव उपनिवेशक

न्यू एक्सटेंशन एरिया,  
सदर, नागपुर-440001  
दि. 28-4-1984

# विषयानुक्रम

## काव्यशास्त्र

### I. प्रथम परिचय

जैन धर्म की ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक परम्परा

1-13

आत्मकरन्द-शीर्षकर श्रुतजनेय से नैमिषीय-शक (1), शीर्षकर-पार्श्वनाथ और महावीर (2-8), पुष्यभूषण शेषदान और सांस्कृतिक-काल (9), अमलकाश-त्मक-सत्य (8)।

### 2. द्वितीय परिचय

जैन साहित्य परम्परा

13-63

प्रकृत-प्रवचन साहित्य (14), संस्कृत साहित्य (26), अन्य भाषा साहित्य (29), द्वितीय साहित्य: अमलकरन्द (30), जैन कथा साहित्य: सुण्डरदत्तजी कथा का अन्वेषणात्मक अध्ययन (43), शोक-लेखन-प्रवृत्ति (48)।

### 3. तृतीय परिचय

जैन दार्शनिक चिन्ता

64-80

स्थावराय और अनेकान्तवाद (64), ध्यान का अन्वेषणात्मक विश्लेषण (71), जैन सुशोक (75)।

### 4. चतुर्थ परिचय

जैन रहस्यवाद (सोप - प्रवचन का सार)

81-96

परिभाषा और विकास (83), आद्यकाल (83), मध्यकाल (88), उत्तर-काल (89), शोक-प्रवचन का सार (91)।

### 5. षष्ठम परिचय

नारी धर्म चिन्ता

97-129

विशम्भर-श्वेताम्बर परंपरा में नारी की स्थिति (97), आत्मव्यक्ति का अन्वेषण (105), सामाजिक स्थिति और विविध समस्याएं (107), नारिवाचिक संन्यास का साहित्य (123)।

# जैन धर्म की ऐतिहासिक एवं साहित्यिक परम्परा

## 1. जैन ऐतिहासिक परम्परा

जैन धर्म धर्म, जाति, लिंग आदि जैसे मानवकृत कटघरों से उन्मुक्त विशुद्ध प्राणव्यात्मिक धर्म है। आत्मा की पवित्रतम ऊंचाई को छूकर-पाकर उसके ज्ञानात्मक और दर्शनात्मक स्वभाव में रमण करना व्यक्ति का परम कर्तव्य है। जैन धर्म इस कर्त्तव्य के साथ सामाजिकता और मानवीयता को सृष्टतात्मक एकबद्ध कर देता है।

### 1. प्राचीन परम्परा तीर्थंकर ऋषभदेव से नेमिनाथ तक

जैन धर्म की कहानी व्यक्ति की सृष्टि की कहानी है। अनादि और अनन्त की कहानी है। अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी के कालचक्र से घूमता हुआ सृष्टिचक्र कुलकर व्यवस्था में केन्द्रित हुआ और उसने आदिनाथ ऋषभदेव से बहस्यार कलाप्रों की शिक्षा पाकर भोगभूमि से कर्म भूमि की ओर अपने विकास के कदम बढ़ाये। कर्मभूमि में पदार्थण होते ही क्षमा, संतोष आदि सहज धर्मों में लिप्सा, मोह, क्रोध आदि बाह्य विकारों की वक्रता घर करती गई और फलतः भरत-बाहुवलि जैसे आइयों के संघर्ष संसार के धिनोने स्वरूप को प्रमट करने लगे।

आदिनाथ के बाद जैन धर्म अजितनाथ, संभवनाथ आदि बीस और प्राणव्यात्मिक महापुरुषों की सुखद छाया को छाता बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के काल तक पहुंचा। इस बीच की कोई परम्परा स्पष्ट रूप में उपलब्ध नहीं होनी। सिन्धु घाटी की सभ्यता में जैन संस्कृति के बीज नहीं, विकसित बिन्ह खोजे जा सकते हैं और वेदों की ऋचाओं में जैन मुनियों की जीवन-रेखा को अंकित पाया जा सकता है। भार्हुत्, ब्राह्मण, वातरशना के अनेक उल्लेखों ने बिद्धानों को यह मानने के लिए बाध्य कर दिया है कि जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति के साथ-साथ चलती रही है। कुछ बिद्धानों का तो यह भी मत है कि जैन संस्कृति वैदिक संस्कृति से भी पूर्वैतर होनी चाहिए।

आकृष्यम कथा (१) में बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि को भगवन् श्री कृष्ण का प्राणव्यात्मिक गुरु माना गया है। छादोग्योपनिषद् (3.17,6) में और आश्विन द्वारा

प्रदत्त श्री कृष्ण का उपदेश जैन परम्परा का स्मरण करा देता है। श्री मुनि मध्वन प्रांगिरस और प्ररिष्टनेमि को एक ही व्यक्तित्व होने की सम्भावना व्यक्त करते हैं। श्रीकृष्ण और प्ररिष्टनेमि के पारिवारिक सम्बन्धों से भी हम परिचित ही हैं।

३. तीर्थंकर पार्श्वनाथ और महावीर

तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ से जैन संस्कृति का ऐतिहासिक काल प्रारम्भ होता है। इनके पूर्ववर्ती तीर्थंकरों को पौराणिक कहकर तत्काल का अन्तर्गत है पर पार्श्वनाथ की ऐतिहासिकता को अस्वीकार करने का साहस अब किसी में नहीं है। उनकी परम्परा भगवान महावीर के काल तक चलती रही है। महावीर का समूचा परिवार पार्श्वनाथ परम्परा का अनुयायी रहा है। पार्श्वनाथ का जन्म महावीर से 250 वर्ष पूर्व वाराणसी नगर में हुआ। उनके पिता राजा प्रश्वसेन और माता वामा थी। यह एक ऐसा समय था जबकि परीक्षित के बाद जनमेजय कुरु देश में यज्ञ संस्कृति का प्रचार कर रहा था।

जैन साहित्य में तो पार्श्व परम्परा का वर्णन मिलता ही है पर बौद्ध साहित्य भी इससे अछूता नहीं रहा। पालि त्रिपिटक में पार्श्वनाथ की चातुर्ग्राम परम्परा का विवरण मिलता है—ग्रहिसा, सत्य, अशौच और अपरिग्रह। यह विवरण कुछ धूमिल रूप में अवश्य उपलब्ध है पर वह अस्पष्ट और अननुसन्धेय नहीं है। तथा गत बुद्ध ने भी पार्श्व परम्परा में दीक्षा ली थी। उनके प्रमुख शिष्य सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी कदाचित् बुद्ध के अनुयायी होने के पूर्व पार्श्व परम्परा के अनुयायी थे। यज्ञ संस्कृति का विरोध करने वाली पार्श्वनाथ परम्परा का अन्तर्गत संघ बुद्ध काल में मौजूद था उसकी साधना विशुद्ध आध्यात्मिक साधना थी। कहा जाता है, चातुर्ग्राम परम्परा अजितनाथ से पार्श्वनाथ तक रही है। उसे पंचग्राम में चौबीसवें तीर्थंकर महावीर ने परिवर्तित किया था।

भगवान पार्श्वनाथ के उपरान्त चौबीसवें तीर्थंकर वर्धमान महावीर हुए। वे अपने समय के कुशल चिन्तक और सामाजिक तथा धार्मिक परम्पराओं किंवा कृदियों को तोड़कर, उन्हें सुव्यवस्थित करने वाले प्रतिभाशाली दार्शनिक तथा आत्मिक और सामाजिक क्रान्ति के अग्रदूत थे। उन्होंने व्यक्ति के जीवन के प्रत्येक क्षेत्र को अपने सूक्ष्मचिन्तन तथा ज्ञान से आलोकित किया। उत्तर काल में उनके अनुयायी शिष्यों-प्रशिष्यों ने महावीर के चिन्तन को आधार बनाकर समयानुसार उनके तत्त्वों को विकास के चरण-पथ पर संजो दिया।

उनका आविर्भाव हमारी भारत वसुन्धरा के रमणीय बिहार (बिहेह) प्रदेश के बैशालीय क्षत्रिय कुण्डग्राम में चंद्र मुकुला त्रयोदशी की मध्य रात्रि में ई. पू. 599 में हुआ था। उनके पिता राजा सिद्धार्थ थे जिन्हें त्रयोस और यमस्वी भी कहा जाता था और माता का नाम वसिष्ठ गोत्रीय त्रिमला था जो त्रिवेद्वेदना और प्रियकारिणी के नाम से भी विख्यात थीं।



बालक वर्धमान की सेवा और प्रतिभा प्रारम्भ से ही इतनी बसरकारी थी कि स्वयं को कि जैसे किनी बुद्धि का अवतार हुआ हो। उनके प्रतिभालोक के समस्त शब्द साधनों की आदर्शरचना नगण्य थी। इसलिए बालक वर्धमान की प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा क विषय में कोई विशेष ज़रूरत नहीं मिलती। सुदूर बाल्य-वस्था की गोद में पला पुसा बालक स्वयं प्रबुद्ध बन गया था।

वर्धमान एक नामन्त परिवार के सदस्य थे। उन्हें ब्रह्म विद्या सुपाठ्य, बुधा यज्ञोदधरा, अथर्व नन्दिवर्धन, आमी उषेष्ठा और अथर्व बुद्धिना का लाल-स्वयं और सान्निध्य विद्या। बाल्यवस्था में युवावस्था तक अन्ते-घाते वर्धमान के चिन्तन और प्रीक्षण में और गहराई आयी। संसार के स्वरूप को परखा। आत्मा तथा शरीर और जीव तथा अजीव के यथावत् वेद की अर्थों प्रांतरीक और बाह्य ज्ञान के माध्यम से अनुभव किया। यही कारण था कि वे स्वयं को वैवाहिक बन्धन में नहीं बांधना चाहते थे। फिर भी कहा जाता है कि उन्होंने अपने परिवार के स्नेहवश वसंतपुर के महासामंत समजीरा जितशनु 'कि पुत्री यज्ञोद के साथ परिणय किया और कालांतर में वे एक पुत्री के पिता भी हुए जिसका विवाह-संबंध आमाती के साथ हुआ। उनका विवाह हुआ हो या नहीं, पर इतना अवश्य है कि उनके मन में वैद-विज्ञान कूट-कूट कर भर गया था और वे सांसारिक कामनाओं से विमुक्त हो गये थे।

ग्रहकार और ममकार का विसर्जन मुक्ति-प्रक्रिया का सर्जन है। एक दास को पीटा हुआ देखकर उन्हें ससारबोध हुआ और कालांतर में उन्होंने मृगशिर कृष्णा दक्षीनी की चतुर्थ प्रहर में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के योग में घर छोड़कर महाभिनष्कमण किया। यह उनका स्वतंत्रता के लिए महाभियान था। इस महा-भियान में उनके पांच संकल्प स्मरणीय हैं—

1. मैं अश्रीतिकर स्थान में नहीं रहूंगा।
2. प्रायः ध्यान में लीन रहूंगा।
3. प्रायः मीन रहूंगा।
4. हाथ में भोजन करूंगा।
5. गृहस्थों को अभिवादन नहीं करूंगा।

इन संकल्पों के साथ वर्धमान महावीर ने लगातार बारह वर्ष तेरह पक्ष तक कुहमरुव काल में कठोर तपस्या की। इस बीच उन्हें गोपालक, भूलपाणि, बर्ध-कीर्तिक प्राणि, कटपुतना, मोहामला, तप्त भुक्ति, संगम, कल्लु जलाका आदि प्राकृतिक अप्राकृतिक उत्सव सहन करना पड़े। इन दारुण दुःखदायी उपसर्गों को उन्होंने जिस धैर्य और शक्ति से सहन किया वह एक अप्रतिम ब्रह्मना थी। वैदिक परम्परा से वे पार्श्वनाथ संन्यास के अनुयायी थे, पर उनका प्रास्वतंत्र उस परम्परागत धर्म से

कहीं भागे बड़ा हुआ था जिसने उन्हें तीर्थकर बनाया । इस संदर्भ में महावीर के वे दस स्वप्न उल्लेखनीय हैं— जिन्हें उन्होंने एक रात्रि में साधना काल में देखे थे—

1. ताल-पिशाच को स्वयं अपने हाथ से गिराना ।
2. श्वेत पुंस्कोकिल का सेवा में उपस्थित होना ।
3. विचित्र वर्णमाला पुंस्कोकिल के सामने दिखाई देना ।
4. सुषंघित दो पुष्पमालायें दिखाई देना ।
5. श्वेत गो-समुदाय दिखाई देना ।
6. विकसित पद्म सरोसर का दर्शन ।
7. स्वयं को महासमुद्र पार करते देखना ।
8. दिनकर किरणों को फँलते हुए देखना ।
9. अपनी भ्रातों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित करते हुए देखना, और
10. स्वयं को मेरु पर्वत पर चढ़ते हुए देखना ।

पाश्र्वनाथ परम्परा के अनुयायी निमित्त ज्ञानी उत्पल ने इन स्वप्नों का क्रमशः फल महावीर से इस प्रकार कहा—

1. आप मोहनीय कर्म का विनाश करेंगे ।
2. आपको शुक्लध्यान की प्राप्ति होगी ।
3. आप विवक्षित ज्ञानरूप द्वादशांग श्रुत की प्ररूपणा करेंगे ।
4. चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं समझ सका ।
5. चतुर्विध संघ की आप स्थापना करेंगे ।
6. चारों प्रकार के देव आपकी सेवा में उपस्थित रहेंगे ।
7. आप संसार सागर को पार करेंगे ।
8. आप केवलज्ञान प्राप्त करेंगे ।
9. आपकी कौर्ति त्रिलोक में व्याप्त होगी, और
10. सिंहासनारूढ़ होकर आप लोक में धर्मोपदेश करेंगे ।

जिस चतुर्थ स्वप्न का फल उत्पल नहीं बता सका उसे महावीर ने स्पष्ट किया कि वे श्रावक धर्म और मुनि धर्म का कथन करेंगे । हम जानते हैं कि स्वप्न व्यक्ति की मनः स्थिति का प्रतीक होता है । उनके पीछे प्रायः एक सजग पृष्ठभूमि प्रतिबिम्बित होती दिखाई देती है । महावीर के स्वप्न मात्र स्वप्न नहीं थे बल्कि उनके बुद्ध निश्चय और मानसिक विशुद्धि के परिचायक थे । इसी की चरम अभिव्यक्ति उनके केवलज्ञान की प्राप्ति तथा तीर्थ प्रवर्तन में दृष्टव्य है । उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति बंशाख शुक्ल दशमी को, दिन के चतुर्थ प्रहर में चतुर्गुणा नदी के तटवर्ती शाल वृक्ष के नीचे गोदोहिका आसन काल में हुई । फल-स्वरूप चार धातिका कर्मों का विनाश करके वे अरिहंत हो गये ।

केवलज्ञानी और सर्वज्ञ महावीर ने संसारी जीवों के कल्याण के लिए बीड़ा उठाया और वे जून्मिका ग्राम से माध्यम-पावा में पट्टे के जहाँ सौमित्र ब्राह्मण ने एक विराट यज्ञ की संयोजना की थी। इस यज्ञ को पूरा करने के लिए धास-पास के अनेक मूर्धन्य पंडित उपस्थित हुए थे। गौतम गोत्रीय इन्द्रभूति अग्निभूति और वायुभूति मगध से, व्यसत और सुषर्मा कोलाग सन्निवेश से, मंडित और मीर्य पुत्र मीर्य सन्निवेश से, अकंपित मिथिला से अचनभ्राता कौशल से, मेतार्य तुंगिक से और प्रभास राजसूह से आये। ये सभी विद्वान ब्राह्मण गोत्रीय थे और वे अपनी 4400 शिष्य मंडली के साथ यज्ञ माला में उपस्थित थे। महावीर को अपनी धर्म देसना के लिए इन विद्वानों की आवश्यकता थी। इसी दृष्टि से वे यज्ञशाला के समीपवर्ती उद्यान में पट्टे के बिजली के समान बड़ी शीघ्रता पूर्वक उनके धामन का समाचार सारे नगर में फैल गया। राजा से लेकर रंक तक उनके तपोतेज के समक्ष नतमस्तक होने पट्टे करने लगे।

भीड़ को किसी एक ओर जाते देखकर इन्द्रभूति गौतम ने जिज्ञासा प्रकट की और यह जानकर कि अमरा महावीर आये हैं, एक मानसिक चिन्ता से ग्रस्त हो गये। वे यह जानते थे कि उनकी यज्ञ सस्था को महावीर के पूर्ववर्ती तीर्षकर पार्श्व नाथ ने काफी हानि पहुँचायी थी और उनके अनुयायी अभी भी उन्हें भाति से नहीं बैठने देते थे। इन्द्रभूति को लगा कि महावीर को पराजित किए बिना यज्ञों की लोकप्रियता बढ़ायी नहीं जा सकती। वे चल पड़े महावीर के पास विवाद करने के उद्देश्य से और पट्टे के समवसरण में। उन्हें आता देखकर महावीर ने गोत्र और नाम के साथ इन्द्रभूति का आह्वान किया और बाद में उनकी दार्शनिक शकाओं का समाधान किया। प्रारम्भ में तो इन्द्रभूति अहंकार के मद में भरे थे, पर बाद में धीरे-धीरे उन्होंने महावीर के चुम्बकीय अस्तित्व को प्रणाम किया और उनके शिष्य बन गये।

इन्द्रभूति की यह स्थिति देखकर उनके भाई अग्निभूति और वायुभूति भी कुछ हतप्रभ-से हुए पर वे इन्द्रभूति को महावीर के प्रभाव से मुक्त करने के लिए उनके पास शारीरिक बर्चा के लिए निकल पड़े। अंत में वे भी महावीर के प्रभाव से बच न सके। इसी तरह शेष विद्वान भी एक-एक कर महावीर के समवसरण में दीक्षित होते गये। यह उनकी धर्म देसना का प्रथम प्रभाव था।

महावीर काल में प्रचलित धार्मिक मतों की सख्या सूत्रकृतांग व गोमट्टकार आदि ग्रंथों में 363 बतायी है और बौद्ध ग्रंथों में 62 प्रकार की मिथ्या दृष्टियों का उल्लेख आया है। इन मत वादों का कुछ अनुमान हम उपयुक्त 11 विद्वानों के विभिन्न सिद्धांतों से भी लगा सकते हैं—

|                    |   |  |
|--------------------|---|--|
| 1. इन्द्रभूति शीतल | — | आत्मा का अस्तित्व नहीं है।                           |
| 2. अग्निभूति       | — | कर्म का अस्तित्व नहीं है।                            |
| 3. वायुभूति        | — | चैतन्य भूतों का धर्म है तथा शरीर और आत्मा अभिन्न है। |
| 4. व्यक्त          | — | बंध भूतों का अस्तित्व नहीं है।                       |
| 5. सुधर्मा         | — | आणि शूद्रों के बाद अपनी ही योगि में उत्पन्न होता है। |
| 6. मंडित           | — | बंध और मोक्ष नहीं है।                                |
| 7. शीघ्रपुत्र      | — | स्वर्ग नहीं है।                                      |
| 8. अकंपित          | — | नरक नहीं है।   |
| 9. अचलघात          | — | पुण्य और पाप पुण्य नहीं हैं;                         |
| 10. येनार्थ        | — | पुनर्जन्म नहीं है।                                   |
| 11. प्रभास         | — | मोक्ष नहीं है।                                       |

तीर्थंकर महावीर ने इन विद्वानों को अपना शिष्य बनाया और उन्हें अपने सिद्धान्तों की व्याख्या करने योग्य बनाकर 'गणधर' की पदवी से अलंकृत किया। उनके साथ उनका शिष्य परिंकर भी महावीर के शरणों में नतमस्तक हो गया। इससे महावीर का धर्म अहनिष्ठ लोकप्रियता का धरोर बढ़ने लगा। अचल, आचलही आचक, और श्राविका के रूप में चतुर्विध संघ की स्थापना कर उन्होंने धर्म की शरण पर पट्टा का दिया। सब को व्यवस्थित करने की दृष्टिसे उन्होंने उसे सात घटकों में विभाजित कर दिया—1. आचार्य, 2. उपाध्याय, 3. स्वधिर, 4. प्रवर्तक, 5. गणी, 6. गणधर, तथा 7. गणावच्छेदक। इन घटकों का आरिजिक विधान भी प्रस्तुत किया जिसके आधार पर उनका पारस्परिक व्यवहार चलता था।

महावीर का युग विषमता का युग था। चातुर्वर्ण्य व्यवस्था से प्रस्त था। नीच-जेंब आत्मना के दूषित रोग से प्रस्त था। इस शासकी की नीचता से विकसने के लिए हर व्यक्ति उद्वल रहा था। इसलिए तीर्थंकर महावीर ने समस्त कर पाठ विना ऐसी विषम परिस्थिति में और समाज को अभिकुल किया एक नये कर्मिकारी आन्दोलन की शोर। उनका मन्तव्य था कि प्रत्येक आत्मा में परमार्थमा बनने की शक्ति विहित है। वह अनादिकाल से कर्मों के शशीभूत होकर जन्म-शरण की प्रक्रिया से अभिभूत हो रहा है। जन्म से कोई शहाया नहीं, शहाया होता है कर्म से। इसलिए कर्म व्यक्ति-व्यक्ति के बीच जेंब-नीच का भेद करता है, जन्म नहीं। मानसिक, बाहिक और कर्मिक विभुति सापेक्षता लिए हुए रहती है। कर्म की अवस्थिति इसी सापेक्षता पर अवलंबित है।

यहाँ यह ध्यान रखना आवश्यक है कि महावीर की दृष्टि में मात्र वेद धर्मशास्त्रों के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। साधु के लिए यदि उसकी धार्मिक पब्लिकिटी नहीं है तो उसे साधु कैसे कहा जा सकता है? इसलिए तिलक, ब्रह्मोपवीत, ब्रह्म-बाबू, किरमुंजब बाबू सम्भुल का केन्द्र तो हो सकता है। परन्तु तब तक उसके साथ धार्मिक निर्भरता, निस्पृहता और नीतराजता की प्रकृति वा हो तक एक उदात्त साधुत्व पगु ही कहा जायेगा। तप की समृद्धि सम्यक्-दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य की समृद्धि के बिना नहीं कही जा सकती है।

इसी तरह उस समय धर्म का सम्बन्ध हिंसात्मक यज्ञों से हो गया था। नरमेघ, अश्वमेध बाबू यज्ञों में साधु सामग्री की प्राप्ति एक साधारण प्रक्रिया थी। महावीर ने ऐसे यज्ञों का विरोध किया और मूक पशुओं की बलि को बर्ण सिद्ध किया। उसके स्थान पर दुष्कर्मों की बलि देने की बात कही। इससे गरीब जनता को साधु सामग्री उपलब्ध हो सकी तथा पशुहिंसा कम हो गई।

महावीर की अहिंसा जीवन को सुव्यवस्थित करने वाली अहिंसा थी। मैत्री, करुणा, मुनिता और जपेक्षा की अहिंसा थी। इस अहिंसा में राजनीतिक युद्ध की प्रवास्तविकता को सिद्ध किया गया था। ये युद्ध अपने तथाकथित स्वार्थ अथवा बड़प्पन की बनाये रखने के लिए मानवता पर क्रूर दलन था। इसलिए महावीर ने धनाक्रमण की बात कही। अतिक्रमण और प्राक्रमण दोनों तत्त्व युद्ध के ही दो पहलू हैं। यदि इन तत्त्वों से विमुक्त रहकर व्यक्ति और समाज के अस्तुस्थान की ओर ध्यान दें तो उसकी वास्तविक संश्लेषता कही जानी चाहिए। इसका तात्पर्य यह भी नहीं कि वह प्रत्याक्रमण करे ही नहीं या कायर बना रहे। प्रत्याक्रमण के लिए यदि वह बिनाश किया जाये तो पूरी शक्ति के साथ उसका प्रतिरोध करना भी उचित ही कर्तव्य-परायणता कही जायेगी। बस, हिंसा की अनिवार्यता में कट्टरता अन्विष्ट रहनी चाहिए। इसलिए यह अहिंसा कायरों की नहीं, वीरों की अहिंसा है; दायित्व-भूय की नहीं, उत्तरदायित्वपूर्ण की अहिंसा है।

अहिंसा के साथ अपरिग्रह की भी बात जुड़ी हुई है। परिग्रह साधारण तौर पर बिना शोषण के नहीं हो सकता। आवश्यकता से अधिक का संग्रह करना सम्भवता की दृष्टि से क्रूर भावना है। धर्म ही जो भी संग्रह किया जाये वह भी स्वार्थ पूर्वक हो। अन्तरंग परिग्रह है मूर्च्छा या साक्षित तथा बाह्य परिग्रह है शैतिक धर्मशास्त्र। सामाजिक अग्रिम से मुक्त होना अपरिग्रही शक्ति के लिए आवश्यक है। अतः इच्छा-परिमाण तथा वस्तु-परिमाण ये अपरिग्रह की दो सही शिखाएँ हैं। व्यावहारिक और व्यापारिक भ्रष्टाचार भी अग्रिम की भावना से क्रूर हो सकता है।

इस प्रकार तीर्थंकर महावीर ने राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक अग्रिम के तीन दून दिये—अवस्था, पुनर्वास्य और निर्वास्य-धर्म। धर्मशक्ति और नारी-

मुक्ति जैसे आन्दोलन भी इन्हीं सूत्रों में अनुस्यूत थे। इन सूत्रों में जीवन का प्राथम्य मूल्य छिपा हुआ है। मानवीय दृष्टिकोण से झोतझोल ये सूत्र विश्वबन्धुत्व को अपने एक में छिपाये, आज भी उतने ही प्राथम्यक हैं जितने पहले थे। आज के परमाणुयुग में तो इन सूत्रों को जगाने की कही अधिक आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए महावीर के धर्म की उपयोगिता पर विशेष प्रकाश डाला जाना चाहिए।

यहां यह उल्लेखनीय है कि तीर्थंकर महावीर का सुसम्बद्ध जीवन-चरित्र लगभग 8-9वीं शती में लिपिबद्ध हुआ। दिगम्बर परम्परा में तनोयपण्डित और तिसट्टिमहापुरिसगुणालकार का आधार लेकर गुणभद्र ने उत्तरपुराण (शक सं. 820) में उनकी संक्षिप्त जीवन रेखाएँ प्रस्तुत की। श्वेताम्बर परम्परा में आचाराम, सूत्रकृताय आदि प्राकृत जनागामों से छुटपुट उद्धरणों का आधार लेकर कल्पसूत्र की रचना हुई। प्राग्वेदी का आधार बनाकर शीलाकाचार्य, हेमचन्द्राचार्य आदि जैसे विद्वानों ने अपने ग्रन्थों का निर्माण किया। पालि त्रिपिटक में कुछ थोड़े से उल्लेख अवश्य मिलते हैं। पर वे उनके साधना काल से सम्बद्ध हैं। वैदिक साहित्य में महावीर का कोई प्राचीन उल्लेख नहीं मिलता। यह आश्चर्य का विषय है। इसलिए उत्तरकाल में जो भी ग्रन्थ लिखे गये उनमें ऐतिहासिकता के साथ ही चमत्कारात्मक तत्त्वों ने भी प्रवेश कर लिया। जिनका विश्लेषण करना भी आवश्यक है।

प्रायः प्रत्येक धर्म और संस्कृति में युगपुरुष हुए हैं। समय के प्रवाह में उन युग पुरुषों के जीवन प्रसंगों के साथ चमत्कार जाड़ दिये गये हैं। इन चमत्कारों को प्रातिहाय अथवा अतिशय कह दिया जाता है और फिर घटनाओं के साथ उनकी अभिन्नता स्थापित कर दी जाती है। यह सब एक ओर उस महामहिम व्यक्तित्व के प्रति श्रद्धा और भक्ति का प्रदर्शन है तो दूसरी ओर लेखक के ऐतिहासिक ज्ञान की न्यूनता का प्रतीक है। यह भी मानवीय स्वभाव है कि जब तक किसी के साथ चमत्कार नहीं जुड़गा तब तक उसका अपेक्षित प्रतिष्ठा नहीं मिलेगी। यही कारण है कि महावीर के जीवन का हर घटना को भक्त साहित्यकारों ने अपेक्षापूर्वक बना दिया। इस अपेक्षापूर्वता की भी एक सीमा होती है। पर जब उसका भी अति-क्रमण हुआ जाता है तो वह अविश्वसनीय-सी बन जाती है। म० महावीर की जीवन घटनाओं में भी चमत्कार का प्राधिक्य कम नहीं। अतः आवश्यक यह है कि उनके ऐतिहासिक रूप को खोजने का प्रयत्न किया जाय। यहाँ हमने ऐसी घटनाओं को ही अपने विश्लेषण का विषय बनाया है।

म० महावीर और बुद्ध के समय ब्राह्मण संस्कृति ह्रास की ओर जा रही थी और क्षत्रियों का प्राबल्य बढ़ रहा था। वैदिक विचारधारा में जो विश्वमता और हिंसा बहुल क्रियाकलाप थे उनके विरोध में इन महापुरुषों ने अपने क्रांतिकारी

विचार प्रस्तुत किये। दोनों संस्कृतियों में परस्पर विरोध इतना बढ़ा कि किसी भी तीर्थंकर को ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होना असम्भव कर दिया और क्षत्रिय कुल को ही विशुद्ध कुल मान लिया। इसी कुल में तीर्थंकर चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि महापुरुषों को जन्म लेना उचित बतलाया। इतना ही नहीं, महावीर को पहले ब्राह्मणकुल में उत्पन्न देवानन्दा के गर्भ में धारण कराया और फिर उसे शकुन और अमोघ्य बताकर क्षत्रियाणी प्रशला के गर्भ में पहुंचाया। यह सब कार्य इन्द्र ने हरणगमेषी देव के द्वारा करवाया। आचाराम सूत्र आदि ग्रन्थों में तो यह भी विस्तार से बताया गया है कि हरणगमेषी ने गर्भ परिवर्तन किस प्रकार से किया। यह सब निश्चित ही ब्राह्मण जाति की अपेक्षा क्षत्रिय जाति को श्रेष्ठ बताने के लिए किया गया है। आज का विज्ञान गर्भ परिवर्तन कराने में सक्षम भले ही हो जाय परन्तु आज से लगभग पच्चीस सौ वर्ष पहले का विज्ञान इतना उन्नत और समृद्ध नहीं था और फिर यह तो किसी मानव ने नहीं बल्कि देव ने किया है। इस घटना से यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि जैनधर्म प्रमुखतः क्षत्रियों का धर्म बन दिया गया था।

कहा जाता है, तीर्थंकर के गर्भांतरण के छः मास पूर्व से ही देवगण के माता-पिता के राजप्रासाद पर रत्नों की दृष्टि करते हैं। यह रत्नदृष्टि धन-सम्पत्ति की प्रतीक हो सकती है। संभव है, राज-महाराजे अथवा महासामंतों को ऐसे समय अपने आधीन रहने वाले कर्मचारियों से तरह-तरह के उपहार मिला करते हों। इन्द्र सन्ध्यात बालक को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर स्नान कराता है। यह क्रिया बालक के जन्म के तुरन्त बाद स्नान क्रिया का चामत्कारिक वर्णन होना चाहिए।<sup>1</sup> महावीर के जन्म-महोत्सव का जो वर्णन मिलता है वह एक साधारण जन्म महोत्सव का दृश्य रूप होगा।

वात्स्यायन में भी इसी प्रकार की अनेक चमत्कार से भरी हुई घटनाओं का उल्लेख मिलता है। विषधर सर्प का रूप धारण कर परीक्षा के निमित्त देव का आना, शिक्षा ग्रहण के समय चमत्कारक बुद्धि की अभिव्यक्ति का कारण मूलतः श्रद्धा और भक्ति रहा होगा। इसके बाद ३० महावीर के जीवन की घटनाओं का कोई विशेष उल्लेख नहीं मिलता। जो भी है, प्रायः चमत्कारों से भरे हुए हैं।

साधक इहावीर ने महानिष्कमण करते ही यह अधिग्रह किया कि वे देह की ममता को छोड़कर सभी प्रकार का उपद्रव समझाव पूर्वक सहन

1. कल्पसूत्र, 91

2. आदिपुराण, 13,84; पञ्चम खरिद, 3, 67

करे। वह समझा उनकी अंतिम साधना तक कता रहा। महावीर से महाशक्ति निकलकर महावीर कर्मरिप्राय पहुँचे जहाँ उन्हें कोई परिधान न सका। कृषि के एक महासामन्त के पुत्र के इसलिए शायद वे जन-जीवन में नहीं आ सके होंगे।

समूची साधना के बीच इन्द्र आदि जैसी कोई न कोई विभूति उनका संरक्षण करती रही। उपसर्गों का प्रारम्भ और अन्त दोनों गोपालक से हुआ है। वीं से सम्बद्ध होने के कारण वयो न इस संयोग को वास्तव्य धर्म का अतीत भाग आया जो जीवनधर्म का प्रमुख अंग है।

तपस्वी महावीर पर प्रथमतः भाला जब प्रहार करने दीवता है तो सुरन्द ही उसे भान करा दिया जाता है कि—ओ मूर्ख ? तू यह क्या कर रहा है ? क्या तू नहीं जानता ये महाराज सिद्धार्थ के पुत्र वर्धमान राजकुमार हैं। वे आत्म-कल्याण के साथ जगत-कल्याण के निमित्त दीक्षा धारण कर साधना में लीन हैं।<sup>1</sup> यह कथन साधना का उद्देश्य प्रकट करता है। इस उद्देश्य की प्राप्ति में साध्य और साधन दोनों की विशुद्धि ने साधक को कभी विचलित नहीं होने दिया।

यही इन्द्र वर्धमान की सहायता करना चाहता है पर साधक वर्धमान कहते हैं कि “अर्हन्त केवलज्ञान की सिद्धि प्राप्त करने में किसी की सहायता नहीं लेते। जितेन्द्र अपने बल से ही केवलज्ञान की प्राप्ति किया करते हैं।<sup>2</sup> इसके बावजूब इन्द्र ने सिद्धार्थ नामक व्यतर की विभूति कर दी जो वर्धमान की अन्त तक रक्षा करसं रहें। हम जानते हैं, महावीर के पिता का नाम सिद्धार्थ था और भीतम बुद्ध का भी नाम सिद्धार्थ था। सिद्धार्थ को व्यतर कहकर उल्लिखित करने का उद्देश्य यही ही सकता है कि घटना-लेखक भीतम बुद्ध के व्यक्तित्व को नीचा करना चाहता रहा हो। दोनों धर्मों में इस प्रकार की घटनाओं का अभाव नहीं। इन्द्र को वैदिक संस्कृति में प्रधान देवता का स्थान मिला है। वर्धमान के चरणों में नतमस्तक कराने का उद्देश्य एक और साधक के व्यक्तित्व को ऊँचा दिखाना और दूसरी और अमर संस्कृति को उच्चतर बतलाना रहा है। सिद्धार्थ यदि व्यतर होता तो उसने महावीर

1. भारत वासाई बोसटुकाए चियस्त देहे जे केई उवसन्ना समुप्यज्जसि, वं जहा, दिव्या वा, माणुत्सा वा, तेरिच्छिया वा, ते सन्ने उवसन्ने समुप्यज्ज, समारणे सम्मं सहिस्सामि, खबिरस्सामि, अहिंयासिस्सामि ॥ आचाराम० धृताध्यवन 2, अ० 23, पृ 39।
2. त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित, 10, 3, 17-26
3. आवश्यक कृष्ण 1, पृ. 270। सबको पंडितो—सिद्धार्थठितो १ त्रिषष्टिशालाकापुरुषचरित, 10. 3. 29-33



की साधना के प्रथम वर्ष में ही अस्त्रिमास के यक्षमन्त्रन में हुए मन्त्र के उपासक का निवारण क्यों नहीं किया ?

साधना के दूसरे वर्ष योराक सन्निवेश में इसी सिद्धार्थ ने वर्धमान की मन्त्रोपासा एक बड़े अयोध्या के रूप में फला बी। कलदा के सारी जनता के लोकप्रिय हो गए, परन्तु वहाँ रहने वाले अशुद्ध अयोध्या की प्राचीनता पर कठोर आघात हुआ। यह जानेकर वर्धमान ने वहाँ से विहार कर दिया। यह उनका महाकारण्य था। अयोध्यावासी के भीर भी अनेक उदाहरण वहाँ मिलते हैं जिनका सम्बन्ध भी सिद्धार्थ से रहा है। अतः सिद्धार्थ नामक कोई अन्य देव नहीं बल्कि व्यक्ति होना चाहिए। हो सकता है, उसका नाम भी सिद्धार्थ देव रहा हो।

साधनाकाल के प्रथम तेरह मास तक कहा जाता है कि वर्धमान मात्र एक वस्त्र पहने किये रहे। उसका कुछ भाग एक निर्धन ब्राह्मण की याचना पर उन्होंने उसे ही दिया और शेष भाग स्वतः गिर गया। इस वस्त्र को देवदूष्य वस्त्र कहा गया। प्राचारांग प्रौर कल्पसूत्र में देवदूष्य वस्त्र के गिरने की बात तो मिलती है पर ब्राह्मण को देने की घटना का बड़ा कोई उल्लेख नहीं मिलता। पूर्णिमा, टीका आदि में उसका उल्लेख अवश्य हुआ है।

देवदूष्य वस्त्र एक विवाद का विषय रहा है क्योंकि उसका सम्बन्ध सचेल और शकल परम्परा से जोड़ दिया गया। जो भी हो, इसका अर्थ है, इस घटना का सम्बन्ध ब्राह्मण सम्प्रदाय की भिक्षावृत्ति को उद्घाटित करना तथा उसे महावीर से जीवनेदान देने की अर्थाथना करना रहा होगा। साम्प्रदायिकता की भावना का लक्षित वहाँ किसी देवा है। वैसे महावीर कीतरामी से यह निर्विवाद है। अतः वस्त्र से उनके कोई अयोजन नहीं रहा होगा। इसे उत्तरकालीन विवाद समझना चाहिए। देवदूष्य शब्द का प्रयोग भी इस बात को स्पष्ट करता है। महावीर ने इस वस्त्र को वर्धमान 13 माह तक रखा और उनका साधना काल भी लगभग तेरह वर्ष रहा। संख्या की यह समानता भी इस सम्बन्ध में विचारणीय है।

उत्तर भारत की भीत और उष्णता, दोनों पूरे जोर पर रहती हैं। महावीर ने उन दोनों को मली-बाति सहा। कहा जाता है, साधना काल में महावीर कभी सोने नहीं ? बारह वर्ष तक कोई सोये न यह सम्भव-सा नहीं लगता। सोने का तात्पर्य यदि प्रमाद से लिया जाय तो अवश्य हम कह सकते हैं कि महावीर पूर्णतः अग्रवादी रहे और अपनी साधना के लक्ष्य पर प्रतिफल प्राप्त रहकर ध्यान करते रहे। वैसे ऐसे न सोने वालों के कुछ उदाहरण आजकल अवश्य मिलते हैं।

विहार, लज्जा है, आकस्मिक आपदाओं का घर रहा है। वर्धमान की साधना-काल के प्रथम वर्ष में ही बड़ी अकाल पड़ा था। परित्राजक भूक पशुओं को भी अपने आश्रम से बाहर कर दिया करते थे परन्तु आकस्मिक वर्धमान देखा नहीं कर

सके। इसका दण्ड उन्हें यह मिला कि आश्रम से निकल जाना पड़ा। उस समय की उनकी मानसिक स्थिति का भवलोकन कीजिए जो जैनधर्म किंवा मानवता का अभिन्न अंग है।<sup>1</sup>

चण्डकौशिक नाग को महावीर ने प्रतिबोध दिया, यह सही हो सकता है, उसके काटने पर महावीर को कोई असर न हुआ हो यह भी सही हो सकता है पर उसके डसने पर महावीर के पैर से रक्त के स्थान पर दूध की धारा बह निकले यह सही नहीं लगता। यह तो वस्तुतः उत्तरकालीन चमत्कार का नियोजन प्रतीत होता है।

साधना के दूसरे वर्ष में गोशालक की भेंट महावीर से हुई और वह छठवें-वर्ष तक महावीर के साथ में रहा भी। इस बीच गोशालक की अनेक घटनाओं का उल्लेख है जिनमें उसके व्यक्तित्व को बिल्कुल नीचा और उपद्रवी दिखाया गया है। वस्तुतः गोशालक की श्रेष्ठता दिखाना स्वाभाविक है। बौद्धागमों ने भी ऐसा ही किया है।

कठपूतना और भालार्य भ्यन्तरियां तथा समवेध के घनघोर उपसर्गों को साधक महावीर ने शान्ति पूर्वक सहन किया। अन्तिम उपसर्ग छन्मणिए ग्राम में हुआ जहाँ ग्वाले ने उनके कानों में किले ठोके। इससे भी कहीं अधिक दुःखदायक उपसर्ग उस समय हुआ जबकि सिद्धार्थ नामक बालक ने अपने मित्र खरक नामक बंदू से उन कानों को निकलवाया।

पालि साहित्य के मज्झिम निकाय (चूल बुक्खवस्सन्ध-सुत्त) तथा संयुत्तनिकाय (सखसुत्त) में भी वर्धमान की तपो साधना का वर्णन है। परन्तु वहाँ नियुक्त नात-पुत्र न होकर 'निगण्ठा' लिखा हुआ है जिसका साधा सादा अर्थ है जैन मुनि। अश्वरथ राज कुमार, असिबन्धकपुत्र गामणी, उपालि आदि श्रावकों के चर्चा-प्रसंगों में भी वर्धमान के स्वयं के तप का रूप स्पष्ट नहीं होता बल्कि उनके सिद्धान्तों पर किञ्चित् प्रकाश पड़ता है। ये सभी उल्लेख उस समय के होंगे जबकि अगवान महावीर केवलज्ञान प्राप्त कर चुके थे और उन्होंने अपने धर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया था।

अगवान् महावीर की देशना को दिव्यध्वनि कहा गया है। इस दिव्यध्वनि

- 
1. इमेण तेण पंच अभिगगहा गहिया (भा. मलय नि. पृ. 268 (1))  
इमेय तेण पंच अभिगगहा वाहिता (भावश्यक बू. पृ. 271)  
नाप्रीतिमद् दुहे वास. स्वधेयं प्रति मया सह।  
न नेहि विनयं काथीं, मीनं पाणी च भोजनम् ॥ (कल्पसूत्र, सुषोधा—पृ. 288)।

को सर्वभाषात्मक मान्य है। आचार्य वीरसेन ने लिखा है कि एक योजन के भीतर दूर दूरवा समीप बैठे हुए छठारह महाभाषा और सात सौ लघुभाषाओं से युक्त तिर्यङ्च, मनुष्य और देवों की भाषा के रूप में परिणत होने वाली तथा स्मृता और अधिकता से रहित, मधुर, मनोहर, गम्भीर और विषद् भाषा के बतिसवों से युक्त तीर्थंकर की दिव्यध्वनि होती है।<sup>1</sup> जिनसेन ने इसे विशेष-भाषात्मक कहा है।<sup>2</sup> कोई ध्वनि प्रयत्न भाषा सर्व भाषात्मक प्रयत्न विशेष भाषात्मक रहे, यह कोरी कहना की बात है। तीर्थंकर की प्रशान्त मूर्ति और प्रभावक व्यक्तित्व को देखकर वस्तुतः श्रोता या दर्शक आकर्षित हो जाते थे। परन्तु उनकी ध्वनि इतनी भाषाओं से युक्त हो और वह मनुष्य तथा देवों की भाषा के रूप में परिणत हो, यह कैसे सम्भव है। उस समय छठारह महाभाषायें तथा सात सौ लघु भाषायें भी तो नहीं थीं। तब इसे कैसे सत्य माना जाय ?

इस प्रकार भगवान् महावीर की साधना के सन्दर्भ में जो कुछ भी मिलता है वह केवल जैन साहित्य में है और ऐसा जो जैन साहित्य है वह प्रायः उत्तरकालीन है। उनमें भक्ति के कारण अमस्कात्मिक कृति का आधिक्य हो जाने से मूल रूप प्रच्छन्न हो गया है। अतः महावीर की तत्कालीन घटनाओं का सम्यक् विश्लेषण आवश्यक हो जाता है। मैंने यहां उन घटनाओं का कुछ विश्लेषण किया है। सम्भव है उसमें मतभेद हो। इसलिए इस विषय में और चिन्तन अपेक्षित है।

## 2. जैन साहित्य परम्परा

साहित्य संस्कृति और समाज का दर्पण है। समाज की परम्परा, समृद्धि, विकास-रूपरेखा, दृष्टि, मान्यता आदि सारे तत्त्व साहित्य की विशाल परिधि के अन्तर्गत प्रतिबिम्बित होते रहे हैं। व्यष्टि और समष्टि के बीच प्रतिबन्धिता, सहयोग, सह-अस्तित्व, सद्भावना, संघर्ष आदि सब कुछ साहित्य की धारों से बच नहीं पाते। इसलिए संस्कृति और समाज के सम्बन्ध में साहित्य को मेरुदण्ड माना जा सकता है।

1. 'जो ज्ञानान्तरदूरसमीपस्थाष्टादशभाषा—सप्तशतकुभाषा—तिर्यंग्देष—मनुष्य भाषाकारयूनाधिक-भाषातीतमधुरमनोहरगम्भीरविसदवापतिश्रय—सम्पन्नः भवन वासिबानव्यन्तर—ज्योतिष्क—कल्पवासीन्द्र—विद्याधर—चक्रवर्ति—बल नारायण—राजाधिराज—महाराजाध—महामण्डलीकेन्द्राग्नि—वायु—भूति—सिंह—ज्यालादि—देव—विद्याधर मनुष्यधि—तिर्यंगिन्द्रेभ्यः प्राप्त—पूजातिशयो महावीरोर्ज्वकर्ता।' (षट्खण्डागम, षडलाटीका, प्रथम खण्ड, पृ. 61)

2. भाविपुराण, 23, 154

प्रत्येक दर्शन और संस्कृति की मूल रूप में एक भाषा रहती है जिसके माध्यम से उसकी प्राण अभिव्यक्ति की जाती है। जैन संस्कृति के प्रणेताओं ने इसे अभिव्यक्ति का माध्यम जनभाषा को चुना। उन्होंने ऐसी भाषा को माध्यम बनाया जो उनके विचारों को जनसाधारण तथा निर्धन और श्रमिक परिवारों तक बिना किसी संकोच और रुकावट के पहुंच सके। ऐसी भाषा संस्कृत हो नहीं सकती थी क्योंकि वह तो उच्चकुलीन भाषा थी। इसलिए जन साधारण में प्रचलित बोलियों की ही उन्होंने स्वीकार किया। इसी को प्राकृत कहा जाता है। प्रादेशिक बोलियों के बीच जो स्वाभाविक अन्तर दिखा उसने प्राकृत को प्रादेशिक स्तर पर विभक्त कर दिया। कालान्तर में इसी के विकसित रूप को अपभ्रंश कहा जाने लगा जिसका रूप प्रवहट्ट के दरवाजे से निकलकर प्राधुनिक भारतीय भाषाओं के विशाल प्राङ्गण तक पहुंचा। उच्च संस्कृत भाषा समृद्ध और सुशिक्षित समुदाय तक ही सीमित रही। भारतीय भाषा विज्ञान के महापिता पाणिनि ने उसे सूत्र-जालों में ऐसा जकड़ दिया कि वह इनसे कभी उभर नहीं सकी। इसलिए उसमें कोई विशेष विकास भी नहीं हो सका।

जैनधर्म जन समाज का धर्म रहा है। वह किसी जर्मि अथवा सम्प्रदाय विशेष से सम्बद्ध न होकर प्राणि मान हो जुड़ा रहा। इसलिए उसने एक ओर जहां प्राकृत जैसी जनभाषा को स्वीकार किया वहीं उसे संस्कृत को भी अपनाया पड़ा। फलतः जैनाचार्यों ने प्राकृत-अपभ्रंश और संस्कृत को पूरे मन से अपने विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया। बाद में हिन्दी, मराठी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि प्रादेशिक भाषाओं को भी उसी रूप में अपनाया। इन सभी भाषाओं का प्राण साहित्य प्रायः जैनाचार्यों से प्रारम्भ होता है। उत्तरकाल में भी उन्होंने उसे भरपूर समृद्ध किया। इस तथ्य को हम आगामी पृष्ठों में देख सकेंगे।

### 1. प्राकृत साहित्य

जैन साहित्य की परम्परा का प्रारम्भ श्रुति परम्परा से होता है। तीर्थंकर महावीर के पूर्व का साहित्य तो उपलब्ध होता ही नहीं है। जो कुछ उल्लेख मिलते हैं उनके अनुसार उसे 'पूर्व' भेरी के अन्तर्गत व्यवस्थित रखा जा सकता है। उनकी पूर्वा की संख्या चौदह है जिनका विवरण तत्कालैवातिक, नन्दिसूत्र आदि ग्रन्थों में। इस प्रकार मिलता है।

1. उत्पन्न पूर्व—इसमें द्रव्य और पर्यायों की उत्पत्ति का विवेचन है। इसमें वस्तु बस, दो सौ प्रसूत और 12 करोड़ पद हैं।

2. अत्रायणी पूर्व—इसमें वस्तु तत्त्व का प्रधानतः वर्णन रखा हुआ है।

सात सौ सुनय-गुणों का तथा पांच अक्षिकाप, सप्त तत्त्व और नौ पदार्थों का परि-  
माण सहित विवरण होगा। इसमें 14 वस्तु, 280 पाहुड़ और छिन्नानों लाख पद  
होते हैं।

3. शीतलद्रव्यवाह—इसमें लकड़ों और विष्कर्म जीवों के बीरों का वर्णन है।  
केवली, सुदेन्द्र, नरेन्द्र, लक्ष्मणी, बलदेव आदि के बीरों का, अरुण-बीर, परधीर,  
शिवधीर, काचधीर, अक्षधीर आदि बीरों का भी यहाँ विवरण किया है। इसमें 8  
वस्तु, 160 पाहुड़ और 70 लाख पद हैं।

4. अस्तित्व-नास्तित्व अवाह—इसमें स्वरूप आदि अतुष्टय की अमेका द्रव्य के  
अस्तित्व का और अरूपानि अतुष्टय की अमेका उसके नास्तित्व का वर्णन है। इसमें  
18 वस्तु, 360 पाहुड़ और एक करोड़ एक करोड़ पद है।

5. ज्ञान प्रवाह—यहाँ मति, श्रुत आदि पाँचों ज्ञानों की उत्पत्ति, स्वरूप,  
प्रकार, विभय आदि का विवेचन है। इसमें 12 वस्तु, 240 पाहुड़ और एक करोड़  
छः पद हैं।

6. सत् प्रवाह—द्रव्य के संदर्भ में विवचेन है।

7. आत्मप्रवाह—आत्मा के अस्तित्व, नास्तित्व आदि घटों का, उसके  
शोकदुःख, कर्त्तव्य आदि स्वरूप का विस्तृत वर्णन है। इसमें 15 वस्तु, 320 पाहुड़,  
और 26 करोड़ पद होते हैं।

8. कर्म प्रवाह—कर्मों के स्वरूप, बन्ध, उदय, व्युच्छिन्ति आदि पर प्रकाश  
कायता है। इसमें 20 वस्तु, 400 पाहुड़ और एक करोड़ अस्सी लाख पद होते हैं।

9. प्रत्याख्यान प्रवाह—व्रत, आचार, प्रतिभ्रमण, प्रतिभा, आराधना,  
विदायना, समिति, मुक्ति आदि का वर्णन है। इसमें 30 वस्तु, 600 पाहुड़ और  
84 लाख पद होते हैं।

10. विद्यानु प्रवाह—विद्याओं, विमितों, स्वप्नों, अदि-विदियों आदि का  
वर्णन है। इसमें 15 वस्तु, 300 पाहुड़ और एक करोड़ 10 लाख पद होते हैं।

11. कलाप्रवाह—सूर्य, चन्द्रमा, ग्रह, तारा, तारा गण आदि की  
उत्पत्ति, यमन, सकुन, शुभ, अशुभ आदि का वर्णन है। इसमें 10 वस्तु, 2 पाहुड़  
और 26 करोड़ पद होते हैं।

12. प्राणवाह प्रवाह—इन्द्रिय, अज्ञान-इन्द्रिय, भावुक्य और प्राण का विकल्प  
है। इसमें 10 वस्तु, 20 पाहुड़ और 13 करोड़ किवा 12 करोड़ अल्पतः लाख  
पद हैं।

13. क्रियाप्रवाह—बुद्धानु क्रियाओं का, अक्षर कलाओं का ज्ञान के  
पुण्य-गुणों का, नृस-भैर आदि ज्ञानों का वर्णन है। इसमें 10 वस्तु 200 पाहुड़,  
और 1 करोड़ पद हैं।

14. लोक विस्तार—परिकर्म, व्यवहार, सञ्चुरादि, कलासंबन्ध आदि ।  
इसमें 10 वस्तु, 200 पाठ्य, और साठे बारह करोड़ पद हैं ।

कुल मिलाकर चौदह पूर्वों में 195 वस्तु और 3900 पाठ्य होते हैं । पद के प्रमाण के संदर्भ में कोई निश्चिन जानकारी नहीं मिलती । हाँ, षट्संख्यभाग के कुछ सूत्र इस गुत्थी को हल करने का प्रयत्न अवश्य करते हैं पर उन्हें अंतिम नहीं माना जा सकता । इन पूर्वों में स्वसमय और परसमय का सुन्दर विवेचन रहा है । दर्शन, ज्योतिष, भूगोल, गणित, आयुर्वेद आदि शास्त्रों को भी इसमें समाहित किया गया है । परन्तु इतने विशाल परिमाण वाला 'पूर्व' साहित्य भाव न जावे क्यों उपलब्ध नहीं है । यहाँ वह उल्लेखनीय है कि पूर्व साहित्य की भाषा परम्परा से संस्कृत मानी जाती है । पर मुझे लगता है वह प्राकृत में रहा होगा ।

व्यवहार सूत्र के अनुसार इस पूर्व साहित्य से अंग साहित्य की उत्पत्ति हुई है । धवला में 'इसे' श्रुत—देवना' की संज्ञा दी गई है और उसके बारह अंगों के समान 'अंग' के भी बारह भेदों का वर्णन किया गया है आचारंग, सूत्रकृतांग, स्थानांग, समवायांग, व्याख्याप्रज्ञापिन, जातृधर्मकथा, उपासकाध्ययन, अन्तःकृदुष, अनुत्तरोपपादिक दश, प्रश्न-व्याकरण, विपाक सूत्र और दृष्टिवाद, दोनों परम्पराओं में इनके नामों में कोई अन्तर नहीं है ।

परम्परागत होने के कारण अंग साहित्य को अनुयोग में 'भागम' की संज्ञा दी गयी है । तीर्थकरों द्वारा ज्ञान अर्थ को आत्मागम, गणधरों, द्वारा रचित सूत्रों को सूत्रागम और गणधरों के शिष्यों द्वारा रचित सूत्र अनन्तरागम हैं । परम्परागत होने के कारण यह सब परम्परागत है । इसे सिद्धान्त भी कहा जाता है । बौद्ध पिटकों की तरह जैन सिद्धान्त साहित्य को 'गणि पिटक' भी कहा गया है । तीर्थकरों द्वारा प्रणीत उपदेश को गणवर व्याख्यायिन करते हैं जिसके आधार पर उनके शिष्य ग्रन्थ-रचना करते हैं ।

शांतिचक्र की जंबूद्वीप्रजन्ति की टीका में कुछ प्राचीन भाषाएँ उद्धृत हैं जिनमें डॉ. बेबर ने केवल छ. अंगों का ही उल्लेख पाया है—आचारंग, स्थान, समवाय व्याख्याप्रज्ञप्ति और दृष्टिवाद । आवश्यकतानुसार आदि में इन ग्यारह अंगों का निर्देश आचारंग आदि से प्रारम्भ किया गया है । लगता है, अंगों की गणना के संदर्भ में ये दो परम्पराएँ रही होंगी ।

सपूर्ण श्रुतज्ञान को दो भागों में विभाजित किया गया है—अंगप्रविष्ट और अंगबाह्य । अंगप्रविष्ट द्वादशांग रचना है और उस पर आधारित ग्रन्थ समुदाय अंगबाह्य माना जाता है । अंगबाह्य के आवश्यक और आवश्यकअतिरिक्त ये दो भेद आवश्यक निर्दुक्ति, विशेषावश्यक भाष्य आदि ग्रन्थों में मिलते हैं । सामाजिक



जैन साहित्य को वाचनाओं के माध्यम से सुस्थिर रखने का प्रयत्न होता रहा है। प्रथम वाचना महावीर-निर्वाण के 160 वर्ष बाद पाटलिपुत्र में चन्द्रगुप्त मौर्य ने कराई। इसके बाद दो दुर्मिर्षों का आघात लगा। तदनन्तर आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में वाचना हुई और इसी तरह नागार्जुन के नेतृत्व में एक अन्य वाचना बलभी में हुई। इन वाचनाओं के लगभग 150 वर्ष बाद (ई. 456 या 467) देवधिगण क्षमाश्रमण के नेतृत्व में बलभी में पुनः वाचना का संयोजन किया गया और उपलब्ध आगम को वाचना, पृच्छना आदि के माध्यम से लिपिबद्ध कर स्थिर करने का प्रयत्न हुआ। श्वेताम्बर परम्परा द्वारा स्वीकृत आगम इसी वाचना के परिणाम हैं। इतने लम्बे काल में श्रुति परम्परा का विच्छेद, मूल पाठों में भेद, पुनरुक्ति से बचने के लिये 'जाव यहा पणवणायै': जैसे शब्दों का प्रयोग विषय-प्रस्तुति में परस्पर विसंगति, जोड़-घटाव आदि की प्रवृत्ति ग्रंथों में, दिखाई देती है। इसलिए स्वर्गीय प. वेचरदास दोषी का यह कथन सही लगता है कि बलभी में सग्रहीत ग्रंथ साहित्य की स्थिति के साथ भगवान महावीर के समय के ग्रंथ साहित्य की तुलना करने वाले को दो सौतेले भाईयों के बीच जितना अंतर होता है उतना भेद मालूम होना सर्वथा संभव है।<sup>2</sup> इतना ही नहीं, देवधिगणी के बाद भी यह परिवर्तन रोका नहीं जा सका। जेकोबी ने तो यहाँ तक कह दिया कि साक्षात् देवधिगणी के यहाँ भी पुस्तकारूढ किया गया पाठ आज मिलना अशक्य है। यह इसलिए भी संभव है कि भगवती-आराधना आदि ग्रंथों में उपलब्ध आगमों से उद्धृत उल्लेख वर्तमान में प्राप्त आगमों में नहीं मिलते। अट्टे पणत्तो या मे सुयग, सुय मे आहस तेण भगवया एवमत्थं जैसे शब्द भी इसके प्रमाण हैं।

अंग साहित्य का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है—

### 1. आचारांग

आचारांग द्वादशांग का प्रथम और आद्य ग्रन्थ है। इसमें श्रमणाचार की व्यवस्था और उसकी सीमांसा की गई है। आचारांग की महत्ता इसी से प्रांकी जा सकती है कि इसके अध्ययन के उपरांत ही सूत्रकृतांग आदि का अध्ययन किया जा सकता है।<sup>3</sup> और भिक्षु भी उसके बाद ही भिक्षाग्रहण के योग्य माना जा सकता है।<sup>4</sup>

1. बुज्झज्जति तिउट्टिज्जा बंधणं परिज्जाणिया।  
किमाह् बंधणं वीरो किवा जाणं तिउट्टई ॥  
सूत्र कृतांग नियुक्ति, गाथा-18-19
2. जैन साहित्य में विकास, 33
3. निशीथ चूर्ण, भाग 4, पृ. 252;
4. व्यवहार भाष्य, 3. 174-5,



संस्कारों, श्राविक के अनुसार आचारांग में घाट कुडि, तीन कुडि, पांच कुडि का चर्चा का वर्णन है। इसी तरह बृहस्पत्यागम भी आचारांग के चर्चा को घुनि चर्चा, तक ही सीमित रखता है। नंदीसूत्र और सप्तवायांग भी लगभग इस कथन से सहमत है। वस्तुतः इसमें आचार और गोचर विधि का निरूपण और संस्कारों पद्धति का प्ररूपण किया गया है।

वर्तमान में उपलब्ध आचारांग में दो श्रुत स्कन्ध हैं। प्रथम श्रुत स्कन्ध का नाम 'बम्ह्वेरिय' है जिसके नव अध्यायन और उनके 51 उद्देशक हैं—1. संस्कार परिणया (संस्कार परिज्ञा), 2. लोग-विजय (लोकविजय), 3. श्रीश्रीसंनिष्य (श्रीश्रीसं-राणिय), 4. सम्मत्त (सम्यक्त्व), 5. आदति भयवा'लोगसार, 6. धूम (धूत), 7. विमोह (विमोह), 8. उवहागसुभ्र (उपधानश्रुत), और 9. महापरिणया (महापरिज्ञा)। आचारांग नियुक्ति में छठे अध्यायन धूत के बाद महापरिज्ञा का नाम आया है और उसे लुप्त माना गया है।

आचारांग का द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध का परिशिष्ट है जो पांच चूलिकाओं में विभक्त है। प्रथम चूलिका में, पिडैषणा, शर्म्यषणा, ईर्ष्यषणा, शोषाजाति-षणा, वस्त्रषणा, पात्रषणा और अन्नग्रहैषणा का वर्णन है। द्वितीय चूलिका में स्वांश, निशीथिका आदि मात अध्ययन हैं। तृतीय भावना चूलिका में भ. महावीर का चरित्र चित्रण है। चतुर्थ चूलिका विमुक्ति है जिसमें प्रारम्भ और परिष्क से मुक्त होने की वान कही गई है। पाचवीं चूलिका वृद्धाकार होने से पृथक् कर दी गई है जिसे निशीथ सूत्र कहा जाता है।

इस प्रकार आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में 25 अध्यायन और 85 उद्देशक हैं। महापरिज्ञा को लुप्त मानने पर कुल 24 अध्यायन और 78 उद्देशक बच जाते हैं। आचारांग की पद संख्या 1-00 मानी गई है। इस धर्म का कुछ भाग अंध में है और कुछ पथ में। डॉ. जैकोबी और शुब्रिग ने इसके अन्वों की सीमाओं का र्णन हुए प्राचीनतम ग्रंथ माना है। भाषा अंडेर खंसी-जी इस सन्ध को सुष्ट करती है। द्वितीय श्रुतस्कन्ध उत्तरकालीन है जो स्पष्टिकृत है। इस ग्रंथ की दो भाषावर्ण्य पाठ भेद के रूप में उपलब्ध हैं—प्रथम वाचना शीलांक की दृष्टि में स्वीकृत पाठकथ और द्वितीय नागार्जुनीय। वाचना रूप देवविषयणि अमाश्रण ने इसे 'बगुणो' और 'आव' शब्दों का उपयोग कर संकलित किया है।

विषय की दृष्टि से आचारांग समृद्ध है। अचेलक और सचेनक दोनों परम्पराएं इसमें सम्मिश्रित हैं। यहाँ अचेलकता और शीलहायता को अर्थिक क्षेत्रकर माना गया है। जैन धर्म की प्राचीनतम सोचना पद्धति की आदतकारी के लिए आचारांग प्रमुख ग्रंथ ग्रन्थ है। महावीर की जीवन पद्धति का भी इसमें अत्यन्त विस्तृत विवरण है। मांस भक्षण जैसे कुछ विषय हमारे समकालीन चिन्तक प्रवचन कर देते हैं।

पर ऐसे विषय निश्चित ही काफी उत्तर कालीन रहे होंगे। क्योंकि जैन धर्म की मूल भावना से इसका कोई मेल नहीं खाता। ऐसे पाठ प्रक्षिप्त ही होना चाहिए।

## 2. सूत्रगण

सूत्रकृताङ्ग (सूयगडाङ्ग) प्राकृत जैन आगम का द्वितीय अंग ग्रन्थ है जिसे सूहयड, सूदयड, सूदयद, सूतगड, सूयगड और सुत्तगड जैसे अभिधान प्राकृत में उपलब्ध होते हैं। परन्तु संस्कृत में यह आगम ग्रन्थ सूत्रकृत नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। सुय, सूद अथवा सुत्त शब्द पालि के सुत्त शब्द से मिलता जुलता लगता है जिसे हम श्रुत, सूक्त अथवा सूत्र अर्थ में व्याख्यायित कर सकते हैं। चूंकि जैन और बौद्ध आगमों की प्रारंभिक परम्परा श्रुति परम्परा रही है और जहाँ कहीं सूत्र शैली का भी प्रयोग हुआ है। इसलिए सूयगडाङ्ग का सूय शब्द उपर्युक्त अर्थों में प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है।

सूत्रकृताङ्ग विषय सामग्री की दृष्टि से एक आकर ग्रन्थ है। समवायाङ्ग के अनुसार इसमें स्वसमय, परसमय और नव पदार्थों का वर्णन है।<sup>1</sup> नन्दीसूत्र के अनुसार इसमें लोक, अलोक, लोकालोक, जीव, अजीव, स्वसमय और परसमय का निरूपण है। तथा क्रियावादी आदि 363 मिथ्यादृष्टियों के मतों का खंडन किया गया है। बहु श्रो श्रुत स्कन्धो, 23 अघ्ययनो, 33 उद्देशन कालो और 36 समुद्देशन कालों में विभक्त है।<sup>2</sup> इसका कुल पद परिमाण 36 हजार है। राजवातिक के अनुसार इसमें ज्ञान, विनय, कल्प तथा अकल्प छेदोपस्थापना, व्यवहार धर्म एवं क्रियाधर्म का वर्णन है। कषाय पाहुड में भी लगभग इसी तरह की विषय सामग्री का उल्लेख है। जब अबला में इन विषयों के साथ ही स्त्रीपरिणाम की भी चर्चा का उल्लेख मिलता है।

इन सभी ग्रन्थों में सूत्रकृताङ्ग की उल्लिखित विषय सामग्री को एकत्रित किया जाय तो वर्तमान सूत्रकृताङ्ग का स्वरूप उपस्थित हो जाता है इसमें 32 अध्यायन हैं।<sup>3</sup>

1. समय, 2. वैतालीय, 3. उपसर्ग, 4. स्त्री परिणाम, 5. नरक, 7. वीर स्तुति, 7. कुशीलपरिभाषा, 8. वीर्य, 9. धर्म, 10. अन्न, 11. मार्ग, 12. समवसरण,

1. सूयगडेणं ससमया सूहयजंति परसमया सूहयजंति समय परसमया सूहयजंति समवाधी-पउण्णमं समवाधो, सू. 90.
2. नन्दीसूत्र, सूत्र-82.
3. प्रतिक्रमण संघनपी, प्रभाचंद्रीय श्रुति

13. त्रिकालग्रंथ हिन्दू (?) 14. आत्मा 15. तदित्थवाचा (?) 16. पुण्डरीक, 17. क्रिया स्थान, 18. आहारक पौरिखाम 19. प्रत्याख्यान, 20. अनगार श्रुतीकीर्ति, 21. श्रुत, 22. धर्म, 23. नासन्दा। इन अध्ययनों से कुछ ऐसी सामग्री अवश्य विद्यमान नहीं होती जिसका उल्लेख उपर्युक्त ग्रंथों में न किया गया हो। बतौरास में उपरोक्त प्रस्तुत ग्रंथ में कुछ परिवर्तन के साथ ये अध्ययन संकलित किये गये हैं।

सूत्रकृताङ्ग के संकलन के सन्दर्भ में किसी व्यक्ति-विशेष के नाम का उल्लेख तो यहाँ नहीं मिलता पर इतना निश्चित है कि उसका संकलन परम्परा का अनुसरण कर स्वबिरों ने प्रश्नोत्तर शैली का आश्रय लेकर लगभग 5 वीं शताब्दी में किया है।<sup>1</sup>

सूत्रकृताङ्ग भी दो श्रुत स्कन्धों में विभाजित है। प्रथम श्रुत स्कन्ध में सोसह अध्ययन हैं—समय, वैतालिक, उपसर्ग, स्त्रीपरिज्ञा, नरक, विशक्ति, वीरस्तुति, कुशील, वीर्य, धर्म, समाधि, मार्ग, समवशरण, याथातथ्य, ग्रंथ, यमकीर्तन प्रभवा आवादीय, और गाथा। द्वितीय श्रुतस्कन्ध में सात अध्ययन हैं—पुण्डरीक, क्रिया स्थान, आहार-परिज्ञा, प्रत्याख्यान क्रिया, अनगारश्रुत, आद्रकीय, और नासन्दीय। इन अध्ययनों में जैनोत्तर दर्शनों की आचार-विचार की मासांसा करते हुए जैनाचार विचार को प्रस्थापित किया गया है।

### 3. ठाणंग

यह तृतीय ग्रंथ है। इसमें संख्याक्रम से तत्त्व पर विचार किया गया है। इसमें दस स्थान और इन्कीस उद्देश्य हैं। 783 गद्य सूत्र और 169 पद्य सूत्र हैं। विषय सामग्री के देखने से यह स्पष्ट आभास होता है कि इसकी रचना काफी बाद में हुई है। उदाहरण तौर पर सप्तनिह्वों में दिनाम्बर सम्प्रदाय का कोई उल्लेख नहीं। इसी तरह महावीर निर्वाण के लगभग 500 वर्ष बाद जिन गणों की उत्पत्ति हुई उसका भी इसमें उल्लेख है। दस दशा ग्रंथों का तथा उपांगों का भी उल्लेख इसी प्रकार का है। इन सबके बावजूद यह ग्रंथ स्व-पर समय की अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है।

### 4. समवायांग

ठाणंग की शैली पर ही समवायांग लिखा गया है। सात्त्विक-वायु-अग्नि-पृथ्वी-अणु-सूत्र के अनुसार इसमें सब पदार्थों के समवाय का विचार किया गया है। नन्दिसूत्र के अनुसार इसमें एक से लेकर तीस तक की संख्या वाले पदार्थों का अनुशोधन है। यह ग्रंथ भी उत्तरकालीन है। इसमें देवधिगणों के संकलन के बाद भी कुछ

1. कुम्भिकासि तिसुत्तिकासि बंधणं परिजासिया।

किमाह बंधणो बीरो, कियं बाणं तिसुत्तिकासि ॥ सू. निह्वणिक, भाषा-18-19.

यज्ञ-प्रयोग यथा है। नन्दिसूत्र, उत्तराख्यमन्त्र, अग्नि के उल्लेख तथा अंशों का विस्तृत परिचय इसके उत्तरकालीन अंग सिद्ध करता है। प्राचीन और अर्वाचीन दोनों तरह के विषयों का सम्मेलन यहां हो गया है।

### 5. विद्याह पम्पल्लि :

तादृश्यार्थवार्तिक और षट्षण्डागम के अनुसार इसमें साठ हजार प्रश्नों का व्याख्यान-समाधान किया गया है। समवायाम में ग्रहसंख्या 36000 दी गई है विषय की दृष्टि से विज्ञान होने के कारण इसे 'भगवती' भी कहा जाता है इसमें 101 अध्ययन 10 हजार उद्देशनकाल, 10 हजार समुद्देशन काल, 36 हजार प्रश्न और उनके उत्तर, 288000 पद और संख्यात अक्षर हैं। वर्तमान में इसके 138 शतक और 1925 उद्देशक उपलब्ध हैं। इसका परिमाण 15750 श्लोक प्रमाण है। इसमें भी परिवर्तन-परिवर्धन हुआ है यहां रायपसेणीय, जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति आदि जैसे उत्तरकालीन ग्रंथों से उत्तरण दिये गये हैं बीस के बाद के शतको को उत्तरकालीन माना जाता है। वनस्पति शास्त्र आदि की दृष्टि से भी यह ग्रंथ अधिक उपयोगी है।

### 6. शावाबम्मकहाधो

जय धवला में इसे 'शाहधम्मकहा' और अभयदेव सूरि ने इसे 'ज्ञाता धर्म कथा' कहा है। श्वेताम्बर साहित्य में महावीर के वश का नाम ज्ञातृ निर्दिष्ट है जबकि दिग्म्बर साहित्य में उन्हें 'नाथबंशीय' बताया है। जो भी हो, इस ग्रन्थ में धर्म कथाएं प्रस्तुत की गई हैं चाहे वे महावीर की हों अथवा महावीर के लिए हों। इसमें दो श्रुत स्कन्ध हैं—प्रथम श्रुत स्कन्ध में 19 अध्ययन हैं और दूसरे श्रुत स्कन्ध में 10 वर्ण हैं। दोनों श्रुतस्कन्धों के 21 उद्देशन काल हैं, 29 समुद्देशन काल हैं और 57600 पद हैं। इसमें मेघकुमार, धन्नासार्यवाह, थावन्वापुत्र, सार्यवाह की पुत्रवधुओं, मल्ली भगवती, जिनपाल, तेलीपुत्र आदि की कथाओं का वर्णन है जिनके अध्ययन से जीवन के विविध पक्ष उद्घाटित किये गये हैं। सामाजिक इतिहास की दृष्टि से यह एक उपयोगी ग्रन्थ है।

### अथ धर्म-ग्रन्थः

उपासक दर्शन में दस ध्यावकों का चरित्र वर्णन है—अनन्द, कामदेव, बुल-णीपिता, सुरादेव, बुल्लशतक, कुण्डकोलिक, सकडालपुत्र, महाशतक, नंदिनीपिता, और सान्तियापिता। अन्तकदशा सूत्र में तीर्थ, मातंग, सोमिल, रामपुत्र, सुदर्शन, धमलीक, आदि दस अन्तकृत कैवलियों का वर्णन है। प्रश्न व्याकरणों में प्राचीन रूप और अर्वाचीन रूप दोनों सुरक्षित हैं। विषाकश्रुत के दश प्रकरणों में आयुर्वेद, इतिहास, भूगोल, कला आदि सामग्री को एकत्रित किया गया है।

दृष्टिवाद बारहवां अंग है। यह एक विशाल कार्यात्मक ग्रन्थ था जो लुप्त हो गया है। तत्त्वात्मक वास्तविक और नन्दिसूत्र के अनुसार इसके पांच खंड हैं—परिष्कार, सूत्र, अनुयोग, पूर्वगत और भूलिका। पूर्वों के चौदह खंड हैं जिनका पीछे संश्लेष किया जा चुका है। विगम्बर परम्परा के अनुसार पूर्वों का देशज्ञान आर्यभट्ट की भाँति और वरसेन से पुष्यदन्त व भूतकलि ने पाया जिन्होंने पदसंश्लेषण की रचना की। पर श्वेताम्बर परम्परा में महावीर के निर्वाण के एक हजार वर्ष बाद पूर्वों का पूर्णतः लोप मान लिया गया है।

शेष आगम अंग बाह्य है जो स्थविर कृत हैं। अंग बाह्य के दो भेद हैं—आवश्यक और आवश्यक व्यतिरिक्त। आवश्यक 6 है—सामायिक, चतुर्विंशतिस्तव, वंदना, प्रतिक्रमण, कायोत्सर्ग और प्रत्याख्यान। आवश्यक व्यतिरिक्त कालिक और उत्कालिक के भेद से दो हैं। उत्तराध्ययन, निशीथ आदि कालिक के अन्तर्गत हैं और दशवैकालिक, प्रज्ञापना आदि उत्कालिक में आते हैं।

श्वेताम्बर मूर्तिपूजक संप्रदाय उपलब्ध आगमों में कुछ नियुक्तियों को छोड़ कर 45 अथवा 84 आगम मानता है। 45 आगमों की सूची इस प्रकार है—

- अंग 11— आचार, सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रज्ञप्ति (भगवती), ज्ञातृ धर्मकथा, उपासक दशा, अन्तकृत, दशा, अनुत्प्रेषणाधिक दशा, प्रथम व्याकरण और विषाक।
- उपांग 12— औपपातिक, राजप्रथनीय, जीवाभिनय, प्रज्ञापना, अक्षुणीय प्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, निरयावलिया, कल्पावतंसिका, पुष्पिका, पुष्पभूमिका, वृष्टिगवशा।
- मूलसूत्र 6— आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनुयोग द्वार, पिण्डनियुक्ति, ओषधिनियुक्ति
- छेद सूत्र 6— निशीथ, महानिशीथ, बृहत्कल्प, व्यवहार दशा, अनुत्प्रेषण, पचकल्प
- प्रकीर्णक 10— आतुर प्रत्याख्यान, भक्तपरिज्ञा, तन्दुल वैचारिक, चन्द्रवेध्यक, देवैन्द्रस्तव, गणिविद्या, महाप्रत्याख्यान, चतुःशरणा, वीरस्तव, संस्तारक

84 आगमों की संख्या पूर्वोक्त 45 आगमों के व्यतिरिक्त निम्न प्रकार है—

46. कल्पसूत्र (पर्युषण कल्प, जिनचरित, स्थविरावलि, समाचारी), 47. यतिजीत कल्प (सोमप्रभसूरि), 48. श्रद्धाजीत कल्प (धर्म घोष सूरि), 49. पाक्षिक सूत्र, 50. क्षमापना सूत्र, 51. बंदिस्तु, 51. ऋषिभाषित, 53. अक्षीवकल्प, 54. गुरुच्छाचार, 55. भरण समाधि, 56. सिद्धप्रामुत, 57. तीर्थीकरण, 58. आरंभना

पञ्चाङ्ग, 59. द्वीपसागर प्रज्ञप्ति, 60. ज्योतिष करण्डक, 61. धर्म विद्या, 62. त्रिषि  
प्रदीर्घक, 63. पिण्ड विद्युद्धि, 64. सारावलि, 65. पर्यन्ताराधना, 66. श्रीवैश्विक  
67. कवचप्रकरण. 68. योनिप्रामृत, 69. धनसूत्रिया, 70. वनसूत्रिया, 71. बृह  
वसुधरसूत्र, 72. जन्मपयन्ना, 73. आयस्यक नियुक्ति, 74. दशवैकालिक नियुक्ति,  
75. उत्तराध्ययन नियुक्ति, 76. आचारांग नियुक्ति, 77. सूत्रकृताय नियुक्ति,  
78. सूर्य प्रज्ञप्ति, 79. बृहत्कल्प नियुक्ति, 80. व्यवहार, 81. दशा श्रुत स्कन्ध  
नियुक्ति, 82. ऋषिभाषित नियुक्ति 83. संसक्त, नियुक्ति, 84. विशेषावश्यक  
कल्प ।

स्थानकवासी, और तेरा पन्थ संप्रदाय के अनुसार ग्रानम 32 हैं—

ग्रंथ - 11, उपांग 12

ग्रन्थ सूत्र 4- दशवै कालिक, उत्तराध्यायन, अनुयोग द्वार, नदी,

वेद सूत्र 4- निखीय, व्यवहार, बृहत्कल्प, दशा श्रुत स्कन्ध, भावश्यक सूत्र 1

इन ग्रन्थों पर आचार्यों ने नियुक्ति, भाष्य चूर्ण, टीका, विवरण, वृत्ति,  
पत्रिका आदि रूप में विशाल प्राकृत-संस्कृत साहित्य लिखा। भद्रबाहु इन आचार्यों  
में प्रमुखतम आचार्य रहे हैं। उन्होने दस ग्रन्थों पर पद्यबद्ध नियुक्तियाँ लिखी-  
भावश्यक, दश-वैकालिक, उत्तराध्ययन, आचारांग, सूत्रकृतांग, दशाश्रुत स्कन्ध,  
बृहत्कल्प, व्यवहार, सूर्य प्रज्ञप्ति और ऋषि भाषित। इनकी रचना निम्न पद्धति  
में की गई है।

भावश्यक, दशवै कालिक, उत्तराध्ययन, बृहत्कल्प, पंचकल्प, व्यवहार,  
निखीय, जीतकल्प, शोधनियुक्ति और पिण्ड नियुक्ति पर प्राकृत पद्य बद्ध भाष्य  
लिखते हैं। इनमें आचार्य जिनमद्र (वि.स. 650-660) का विशेषावश्यक भाष्य  
विशेष उल्लेखनीय है। सधवासयणि का बृहत्कल्प लघुभाष्य भी इसी प्रकार दार्श-  
निक और साहित्यक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

चूर्ण साहित्य पद्य में न होकर प्राकृत-संस्कृत मिश्रित गद्य में है। चूर्णकारों  
में जिन दास गणि महत्तर और सिद्धसेन सूरि प्रमुख हैं। टीकाओं का कथाभाग  
अधिकतमः प्राकृत में है। हरि भद्रसूरि, श्रीलांकाचार्य और शांतिसूरि इन टीका  
कारों में अग्रगण्य हैं। यह साहित्य अर्ध मागधी प्राकृत में है जिसे श्वेताम्बर संप्रदाय  
स्वीकार करता है और विगम्बर संप्रदाय लुप्त मानता है।

पीछे हुए दृष्टिवाद के संदर्भ में लिख चुके हैं। श्वेताम्बर संप्रदाय उसे लुप्त  
मानता है जबकि विगम्बर संप्रदाय उसके कुछ भाग को स्वीकार करता है। उसका  
षट्कण्ठासम इसी दृष्टिवाद के अन्तर्गत अग्रगण्य नामक द्वितीय पूर्व के चयनलक्षि  
नामक पाँचवें अधिकार के अनुसार पाहुड (प्रामुत) कर्म प्रकृति पर आधारित है। इस

लिए इसे कर्मप्रामुख भी कहा जाता है। इसके आरम्भिक भाग सत्प्रकल्पना के रचयिता आचार्य पुण्यदन्त हैं और शेष भाग की रचना सुतबलि ने की है। इनकी समय महावीर निर्वाण के लगभग 600-700 वर्ष बाद माना जाता है। इस पर वीरसेन (सं. 873) की 72 हजार श्लोक प्रमाण खबला टीका उपलब्ध है। दृष्टिवाद के ही ज्ञान प्रवाद नामक पात्रों पूर्व की दसवीं शताब्दी के ऐश्वर्य दोस नामक तृतीय प्रामुख से 'कसाय पाहुड़' की उत्पत्ति हुई जिसकी रचना गुणधर (वीर निर्वाण के 685 वर्ष बाद) ने की। इस पर वीरसेन (सन् 874) ने 20 हजार श्लोक प्रमाण जो जयधवला टीका लिखी उसे प्रकुरी रही। जिनसेन ने सं. 894 में संपादित किया 40 हजार श्लोक प्रमाण और लिखकर। इन ग्रन्थों के आधार पर ही नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती ने वि. सं. की 11 वीं शती में गोमट्टसार व लम्बिसार की रचना की। पंच सग्रह खबगसेठी आदि ग्रन्थ भी इसी श्रेणी में आते हैं।

कर्म साहित्य के ये ग्रन्थ वीरसेनी प्राकृत में हैं। इनके प्रतिरिक्त कुछ और सिद्धांत ग्रन्थ हैं जिनमें आगम ग्रन्थों के रूप में मान्यता मिली है। इन ग्रन्थों में प्रमुख है— आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथमशती) के पद्यस्यसार, समयसार, नियमसार, पचलियकाय संगहसुत्त, दसण पाहुड़, चारित पाहुड़, सुतपाहुड़, बोधपाहुड़, भावपाहुड़, आदि, षट्केर (उरी शनी) का मूलाचार, शिवायं (3 री शती)की भगवद् आराहणा, वसुतन्दी का उवासायाञ्जयण।

इनके प्रतिरिक्त और भी विमाल प्राकृत साहित्य है। आचार्य सिद्धसेन (5-6 वीं शती) का सम्मइसुत्त, नेमिचन्द्र सूरि का पद्यस्य सारुद्धार, धर्मदासगणी (8 वीं शती) की उवएस माला, जिनरत्न सूरि का विवेग विलास, हरिभद्र सूरि का पञ्च-वस्तुग, वीरभद्र की आराहणापढाया, कुमारकालिकेय का बारसानुवेकका आदि कुछ ऐसे प्राकृत ग्रन्थ हैं जिनसे जैन सिद्धांत और आचार पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

त्रेसठ शलाका महापुरुषों पर भी जैनचार्यों ने प्राकृत साहित्य लिखा है। विमलसूरि (वि. सं. 530) का पउमचरिय, शीलाचार्य का अउपपन्न महापुरिसचरिय नेमिचन्द्र सूरि का महावीर चरिय, श्रीचन्द्रसूरि का सणंत कुमार चरिय, सचदासगणि व धर्मदासगणिका वसुदवहिण्डी उल्लेखनीय है इन सभी के आधार पर कथा साहित्य की भी रचना हुई है। धर्मदासगणि का उपदेश माला प्रकरण, जयसिंह सूरि का धर्मोपदेशमाला विवरण, देवेन्द्रगणि का आखलाणमणिकोस आदि महत्त्वपूर्ण कथा-कोश ग्रन्थ हैं। इसी तरह अशोतिष, गणित, व्याकरण, कोष आदि विधाओं में भी प्राकृत साहित्य के अनुपम ग्रन्थ मिलते हैं।

प्राकृत साहित्य के साथ ही हम अपभ्रंश साहित्य पर भी विचार कर सकते हैं। प्राकृत का ही विकसित रूप अपभ्रंश है। इसका साहित्य लगभग 7 वीं शती से 16 वीं शती तक उपलब्ध होता है। इस बीच अनेक महाकाव्य और सप्तकाव्य

लिखे गये। ये काव्य प्रायः संस्कृत शैली का अनुकरण करते दिखाई देते हैं। महाकवि स्वयंभू (लगभग 8वीं शती) के पउमचरित्र, रिट्टरौमिचरित्र, पुष्पवंत का महा-पुराण (ई. 965), धनपाल का भविसयत्त कहा बवल, (14वीं शती) का हरिवंश-पुराण, वीरकवि का जङ्गसामिचरित्र, नयनंदि का सुदंशरणचरित्र, श्रीधर के भविसयत्त चरित्र, पासणाहचरित्र, सुकुमालचरित्र, यशः-कीर्ति का चंदप्पह चरित्र, योगीन्द्र के परम्पयासु व योगसार, महर्षद का दोहापाहुड, देवसेन का सावयधम्भ दोहा आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जो काव्यात्मकता और भाष्कारिमकता को समेटे हुए हैं। इस पर हम अपनी ग्रन्थतम पुस्तक 'मध्यकालीन हिन्दी जैन साहित्य में रहस्यभावना' में विचार कर चुके हैं।

## 2. संस्कृत साहित्य

संस्कृत की लोकप्रियता और उपयोगिता को देखकर जैनाचार्यों ने भी उते अपनी अभिव्यक्ति का साधन बनाया। संस्कृत का सर्वप्रथम उपयोग करने वाले जैना-चार्य उमास्वामि रहे हैं जिन्होंने तत्त्वार्थ सूत्र की रचनाकर आगामी आचार्यों का मार्ग प्रशस्त किया। वे सिद्धान्त के उद्घट विद्वान थे। उनका अनुकरण कर उनके ही ग्रन्थ पर तत्त्वार्थवातिक, सर्वार्थ सिद्धि, तत्त्वार्थ श्लोक वातिक आदि जैसे बृहत्काय ग्रन्थ लिखे गये। हरिभद्रसूरि, भ्रमृतचन्द्र, जयसेन, आशाधर, सिद्धसेन सूरि, माघनन्दी, जयशेखर, भ्रमितगति आदि आचार्यों ने विपुल साहित्य का निर्माण किया।

न्याय के क्षेत्र में समन्तभद्र (2-3 वी शती) की आप्तमीमांसा, स्वयंसूत्र और युक्त्यनुशासन ग्रन्थ मानदण्ड रहे हैं। आचार्य भ्रकलक, विद्यानन्दि और वसुनन्दि ने इन ग्रन्थों पर टीकाये लिखी है। इनके अतिरिक्त सिद्धसेन का न्यायावतार, हरिचद्रसूरि के आत्मवार्ता समुच्चय, षड्दर्शन समुच्चय और अनेकान्त जयपताका, भ्रकलक के न्याय विनिश्चय, सिद्धि विनिश्चय आदि तथा प्रभाचन्द्र आदि के ग्रन्थ जैन न्याय के प्रमुख ग्रन्थ हैं। इनमें प्रत्यक्ष और परोक्ष की परिभाषायें सुस्थिर हुई हैं। यशोविजय (18 वी शती) ने नव्यन्याय के क्षेत्र को प्रशस्त किया है।

आचार के क्षेत्र में भी उमास्वामी आद्य आचार्य रहे हैं। उनके बाद समन्तभद्र का रत्नकरण्ड आचकाचार, सोमदेव का उपासकाध्ययन, आशाधर का सागर भर्माभूत, सोमप्रभ सूरि का सिन्दूर प्रकरण उल्लेखनीय है। आगम साहित्य पर टीकायें लिखने वालों में जिनभद्र (7 वी शती), हरिभद्र (8 वी शती), भ्रभयदेव (12 वीं शती), मलयगिरी (12 वीं शती), हेमचन्द्र (12 वीं शती) प्रमुख हैं। स्तोत्र परम्परा भी लम्बी है। समन्तभद्र के देवागम स्तोत्र और स्वयंभू स्तोत्र से इस परम्परा का प्रारम्भ होता है। सिद्धसेन की वत्तीसियाँ, भ्रकलक का भ्रकलक



स्तोत्र, गुणभद्र का आत्मानुशासन, मानसुंग को भक्तामर स्तोत्र, आद्याचर का सहस्रनाम स्तोत्र आदि स्तोत्र परक साहित्य ने उसका अनुकरण किया।

इसी प्रकार पौराणिक और ऐतिहासिक काव्य साहित्य में रविशेष का पद्म-पुराण (वि. सं. 734), जिनसेन का हरिवंशपुराण (शक सं 705), आदिपुराण, गुणभद्र का उत्तरपुराण (शक सं. 770), हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित (वि. सं. 1228), आदि ऐसे ग्रन्थ हैं जिनका सांस्कृतिक और ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत अधिक महत्व है।

जैनाचार्यों ने कथासाहित्य का उपयोग आध्यात्मिक जिज्ञासार्थों के समाधान के लिए किया है। समूचा भागवत साहित्य ऐसी कथाओं से घ्रापूर है जिनमें लौकिक कथाओं को अपने उद्देश्य के अनुसार परिवर्तित कर दिया गया है। हरिशेष का कथकोश (वि. सं 955), प्रभाचन्द्र तथा नेमिचन्द्र के कथाकोश, सकलकीर्ति आदि के वृत्तकथाकोश इस सदर्भ में विशेष उल्लेखनीय हैं। व्यक्ति विशेष को लेकर भी सैकड़ों ग्रन्थ लिखे गये हैं जिनका समीक्षात्मक अध्ययन करना अभी शेष है। इन सभी ग्रन्थों की पृष्ठभूमि में जैन सिद्धान्त की व्याख्या-प्रस्तुति रही है।

इसके अतिरिक्त व्याकरण, कोश, अलंकार, छन्द, काव्य, ज्योतिष, क्लेश, आयुर्वेद, नाटक आदि विधाओं में भी जैनाचार्यों ने संस्कृत साहित्य का सुजन किया है।

अभी हमने जैन साहित्य की विविध विधाओं को देखा। उनमें अधिकांश रचनाएँ उच्च कोटि की हैं। काव्य सौंदर्य की दृष्टि से तो एक-एक कव्य बेजोड़ दिखाई देता है। पाम्वाभ्युदय, धर्मशर्माभ्युदय, यथाचितामणि, विलकम्बरी आदि काव्य कालिदास, माघ, भारवि तथा श्रीहर्ष आदि जैसे महाकवियों के ग्रंथों की तुलना में किसी तरह कम नहीं। चम्पू साहित्य में यद्यस्तिलकचम्पू की कोटि का कोई ग्रंथ है ही नहीं। स्तोत्र साहित्य में भक्तामर, विषापहार, ऐकीभाव आदि स्तोत्र अतिरस के कलश हैं। प्राकृत साहित्य तो अधिकांशतः जैनियों द्वारा ही लिखा गया है। यह सभी साहित्य प्राचीन भारतीय भूगोल और संस्कृति की जानकारी के लिए एक अनुपम और अजस्र स्रोत है। लालित्य के अतिरिक्त इसमें राष्ट्रीयता कूट-कूट कर भरी हुई है समन्वयवादिता के लिए तो जैन कवि अप्रमत्त कहे जा सकते हैं। अनेकांतवाद की प्रतिष्ठा और उस पर लिखा गया साहित्य इसका स्पष्ट उदाहरण है। आचार क्षेत्र में अहिंसा और विचार क्षेत्र में अनेकांत की प्रस्थापना द्वारा मानव का जो नैतिक बौद्धिक उत्थान करने का प्रयत्न जैन तीर्थंकर और उनके शिष्यों-प्रशिष्यों ने किया वह अविस्मरणीय रहेगा। समाजवाद को सही रूप में लाने का प्रयत्न अपरिग्रहवाद द्वारा किया गया है। इस प्रकार जैन धर्म और साहित्य की मूल भावना सर्वोदयमयी रही है—

सर्वान्तमद् तद्गुरुराधुस्य कल्पम् सर्वान्तमृत्यं च विधौऽनपेक्षम् ।  
सर्वविदासन्तकरं निरन्तं सर्वोदयं तीर्थमिवं तसैव ॥

प्रायः जैन साहित्य पर आक्षेप किया जाता है कि वह साम्प्रदायिक साहित्य है । इस झूट में उसका मूल्यांकन करने कोई तैयार नहीं होता, यह बड़े दुःख व आश्चर्य की बात है । सच तो यह है कि इस साम्प्रदायिक दृष्टि के व्यामोह में विद्वानों और राजनीतिकों ने जैन साहित्य को फूटी भाखों से भी नहीं देखा । यदि वे जैन साहित्य को साम्प्रदायिक साहित्य कहना चाहते हैं तो वेद से लेकर कालिदास, भारवि, श्रीहर्ष, शंकराचार्य आदि महाकवियों के साहित्य को असाम्प्रदायिक की श्रेणी में कैसे खड़ा किया जा सकता है ? आश्चर्य है, भारत के किसी भी विश्व विद्यालय की किसी भी प्राथम्य भारतीय विद्या की परीक्षा में जैन साहित्य को कोई विशेष स्थान प्राप्त नहीं । इसका फल यह हुआ है कि विद्वान और छात्रगण उस और दृष्टिपात ही नहीं करते । हर व्यक्ति किसी धर्म और सम्प्रदाय विशेष से सम्बन्धित होता ही है । तब निश्चित ही उसकी विचारधारा का प्रतिबिम्ब उसके साहित्य पर पड़ेगा । इसलिए साम्प्रदायिक और असाम्प्रदायिक जैसे शब्दों के बीच की भेदक रेखा स्पष्ट होनी चाहिए अन्यथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के अनेक बहुमूल्य तत्त्व न जाने कब तक प्रच्छन्न रहेंगे । साहित्य के क्षेत्र में विचारक की दृष्टि विद्युद् और निष्पक्ष होनी चाहिए तभी उसका सही मूल्यांकन सम्भव है ।

जैनाचार्यों ने प्राकृत को विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाया । बादमे सनभग सभी प्रादेशिक भाषाओं को भी उसी रूप में अपनाया गया इन सभी भाषाओं का प्रायः साहित्य प्रायः जैनाचार्यों से प्रारम्भ होता है ।

प्रायः भारतीय साहित्य में जैन वाङ्मय का नाम उस दिन स्वर्णक्षरों में लिखा जायेगा जिस दिन उसका सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में आ जायेगा । साहित्य की ऐसी कोई विधा नहीं जिसमें जैनाचार्यों ने कलम न चलायी हो । प्राचीन भारतीय भाषाओं में ऐसी कोई भाषा भी नहीं, जिसे उन्होंने न अपनाया हो । लोकभाषा और साहित्यिक भाषा दोनों पर उन्होंने समान अधिकार पाया और प्राकृत, काव्य, न्याय व्याकरण, छन्द, कोष, अलंकार, आयुर्वेद, ज्योतिष, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि सभी विषयों पर संस्कृत प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया आदि भाषाओं तथा राजस्थानी, बुंदेलखंडी, ब्रज आदि जैसी बोलियाँ में भरपूर साहित्य सर्जना की । इसके साथ ब्रजिड भाषाओं—तमिल, तेलगू, कन्नड़ और मलयालम में भी उसी कोटि का साहित्यिक कार्य जैनाचार्यों ने किया ।

## ग्रन्थ भाषा साहित्य प्रवृत्ति :

तमिल भाषा के पांच ब्राह्म महाकाव्य माने जाते हैं—शिल्पदिकारन, वस-यापनि, चिन्तामणि, कुण्डलकेशि और मणि मेखलै । इनमें प्रथम तीन निर्बिधाद्य रूप से जैन महाकाव्य हैं । इनके अतिरिक्त पांच लघुकाव्य भी जैनाचार्यों की कृतियाँ हैं—नीलकेशि सूडामणि, यशोधरकावियम, नागकुमार कावियम्, तथा उदयपालक ये । कुरल काव्य को तो कुन्दकुन्दाचार्य की कृति मानी जाती है । अन्य तमिल काव्य विधायों भी जैनाचार्यों ने समृद्ध की हैं ।

कन्नड़ साहित्य तो जैनों से श्रोतप्रोत रहा है कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्त-भद्र, पूज्यवाद, धकलंक, विद्यानन्दि, सोमदेव जैसे प्रधान जैनाचार्य कर्नाटक की ही देन हैं । महाकवि पम्प, पोन्न, रस्त, चामुण्डराय, नागचन्द्र, सोमनाथ, गुरुशर्मा, महाबल आदि जैन धर्म के ही अनुयायी थे जिन्होंने कन्नड़ साहित्य की विशिष्ट विधाओं में साहित्य सृजन किया है तत्त्वतः कन्नड़ का पञ्चहस्तर प्रतिपात साहित्य जैन साहित्य है जो कर्नाटक में जैन धर्म की लोकप्रियता का उदाहरण माना जा सकता है । इसी तरह मराठी साहित्य के भी ब्राह्म लेखक जैन रहे हैं । पर अधिक मराठी जैन साहित्य 17 वी शती से प्रारम्भ होता है ।

गुजरात तो प्रारम्भ से जैनधर्म का आश्रयदाता रहा है । उसका साहित्य 12 वी शती से प्रारम्भ होता है जिसके प्रवर्तक जैनाचार्य ही थे । रासो, फाणु, बारह-मासा, विवाहलु आदि काव्य प्रवृत्तियों के जन्मदाता जैन ही थे । शालिग्रह सूरि, (1185 ई.) का भरतेश्वर बाहुबलि रास प्रथम प्राप्य गुजराती कृति है । विनयप्रभ, राजशेखर सूरि जैसे प्रमुख गुजराती कवि उल्लेखनीय हैं ।

हिन्दी का भी आदिकाल जैनाचार्यों से ही प्रारम्भ होता है । जिनदत्त सूरि का चर्चरी, उपदेश आसिग का जीवदयारास, जिनपदम की सिरिभूलिभद्र फाणु आदि ऐसी ही जैन कृतियाँ हैं । मध्यकाल में सहस्राधिक प्रबन्ध काव्य रूपक काव्य, अध्यात्म और भक्ति मूलक काव्य, गीति काव्य और प्रकीर्णक काव्य लिखे गये हैं । ब्रह्मजिन-दास बनारसीदास, ध्यानतराय कुशल लाभ, रायमल्ल, जयसागर, नैयात्रसवतीदास आदि जैसे शीर्षस्थ कर्ताकवि मध्यकाल की देन हैं । इन सभी पर हम अपने "हिन्दी जैन काव्य प्रवृत्ति" तथा "मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य में रहस्यभावना" ग्रंथों में विश्कार कर चुके हैं । यहाँ कविबर ब्रह्म जयसागर तथा ध्यानतराय पर विशेष ध्यान आकृष्ट करना चाहती हैं ।

### कविचर चानतराय

चानतराय हिन्दी जैन साहित्य के मूर्धन्य कवि माने जाते हैं। वे अध्यात्म-रसिक और परमतत्व के उपासक थे। उनका जन्म वि० सं० 1733 में आगरा में हुआ था। कवि के प्रमुख ग्रन्थों में धर्मविलास सं० 1780) और आश्रमविलास उल्लेखनीय हैं। धर्मविलास में कवि की लगभग सप्ताशी रचनाओं का संकलन किया गया है। इसमें 333 पद, पूजायें तथा अन्य विषयों से सम्बद्ध रचनायें मिलती हैं। आश्रम विलास का संकलन कवि की मृत्यु के बाद प० जगताराय ने सं० 1784 में किया। इसमें 46 रचनायें मिलती हैं। इसके अनुसार चानतराय का निधन काल सं० 1783 कार्तिक शुक्ल चतुर्दशी है। धर्मविलास में कवि ने सं० 1780 तक की जीवन की घटनाओं का संक्षिप्त प्राकलन किया है। इसे हम उनका आत्मचरित्र कह सकते हैं जो बनारसीदास के अष्टांशानक का अनुकरण करता प्रतीत होता है। इनके अतिरिक्त कवि की कुछ फुटकर रचनायें और पद भी उपलब्ध होते हैं। 333 पदों के अतिरिक्त लगभग 200 पद और होंगे। ये पद जयपुर, दिल्ली आदि स्थानों के शास्त्र भण्डारों में सुरक्षित हैं।

हिन्दी सन्त अध्यात्म-साधना को सजीये हुए हैं। वे सहज-साधना द्वारा परमात्मपद की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहे हैं। उनके साहित्य में भक्ति, स्वसंवेद्यज्ञान और मत्कर्म का तथा सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् का सुन्दर समन्वय मिलता है जो आत्मचिन्तन से स्फुटित हुआ है। इस पथ का पथिक सत, संसार की क्षणभंगुरता, माया-मोह, बाह्याडम्बर की निरर्थकता, पुस्तकीय ज्ञान की व्यर्थता मन की एकाग्रता, चित्त शुद्धि, स्वसंवेद्य ज्ञान पर जोर, सद्गुरु-सत्संग की महिमा प्रपत्ति भक्ति, सहज साधना आदि विशेषताओं से मंडित विचारधाराओं में दुबकियाँ लगाना रहता है। इन सभी विषयों पर वह गहन चिन्तन करता हुआ परम साध्य की प्राप्ति में जुट जाता है।

कवि चानतराय की धीधन-साधना इन्हीं विशेषताओं को प्राप्त करने में लगी रही। और उन्होंने जो कुछ भी लिखा, वह एक ओर उनका भक्ति प्रवाह है तो दूसरी ओर संत-साधना की प्रवृत्तियों की अभिव्यक्ति है। यही कारण है कि उनके साहित्य में भक्ति और रहस्य भावना का सुन्दर समन्वय हुआ है। यहाँ हम कवि की इन्हीं प्रवृत्तियों का संक्षिप्त विश्लेषण कर रहे हैं।

साधक कवि सांसारिक विषय-वासना और उमकी असाहता एवं क्षणभंगुरता पर विविध प्रकार से चिन्तन करता है। चिन्तन करते समय वह सहजता पूर्वक अश्रुक हो जाता है। उस अवस्था में वह अपने को कभी दोष देता है तो कभी तीर्थकरों को धीष में लाता है। कभी रागादिक पदार्थों की ओर निहारता है तो कभी तीर्थकरों से प्रार्थना, विनती और उलाहने की बात करता है। कभी पश्चात्ताप करता हुआ दिखाई देता है तो कभी सत्संगति के लिए प्रयत्नशील दिखता है। चानतराय को तो यह सारा संसार बिल्कुल मिथ्या दिखाई देता है। वे अनुभव

करते हैं कि जिस देह को हमने अपना माना और जिसे हम लम्बी प्रकार के रसपानों से पोषते रहे, वह कभी हमारे साथ नहीं चलता, तब अन्य पदार्थों की बात क्या सोचें ? सुख के मूल स्वरूप को तो देखा समझा ही नहीं । व्यर्थ में मोह करता है । आत्मतत्त्व को पाये बिना असत्य के माध्यम से जीव प्रव्याजर्जन करता, असत्य सचका करता, यमराज से भयभीत होता मैं और मेरा की रट लगाता संसार में झूझता फिरता है । इसलिए संसार की विनाशशीलता को देखते हुए वे संसारी जीवों को सम्बोधित करते हुए कहते हैं—

मिथ्या यह संसार है रे, भूठा यह संसार है रे ॥  
 जो देही वह रस सौं पोषै, सो नहि संग चले रे,  
 औरन कौं तोहि कौन भरोसौ, नाहक मोह करे रे ॥  
 सुख की बातें बूझे नाहीं, दुख कौं सुख लेखें रे ।  
 मूढी मांही माता डोलै, साधौ नाल डरै रे ॥  
 भूठ कमाता भूठी खाता, भूठी जाप जपे रे ।  
 सच्चा सांई सूझे नाहीं, क्यों कर पार लमे रे ॥  
 जम सौं डरता फूला फिरता, करता मैं मैं मेरे ।  
 दानत स्याना सोई जाना, जो जन ध्यान धरे रे ॥<sup>1</sup>

कबीर<sup>2</sup> दादू<sup>3</sup> नानक<sup>4</sup> आदि हिन्दी सन्तों ने भी संसार की असारता और क्षणमंगुरता का दानतराय<sup>5</sup> से मिलता जुलता चित्रण किया है । सगुण ब्रह्म कवि भी संसार चिन्तन में पीछे नहीं रहे । उन्होंने भी निर्गुण सन्तों का अनुकरण किया है ।

संसारी जीव मिथ्यात्व के कारण ही कर्मों से बंधा रहता है वह माया के फंदे में फंसकर जन्म-मरण की प्रक्रिया लम्बी करता चला जाता है । दानतराय ऐसे मिथ्यात्वी की स्थिति देखकर पूछ उठते हैं कि हे आत्मन् यह मिथ्यात्व चुकने

1. हिन्दी पद संग्रह, 156 पृ. 130
2. ऐसा संसार है जैसा सेमरफूल ।  
दस दिन के व्यवहार में भूठे रे मन झूल ॥ कबीर साखी संग्रह, पृ. 61
3. यह संसार सेबल के फूल ज्यों तापर तू जिनि फूसै ॥ दादूकर्मवी भाग-2 पृ. 14
4. घाघ घड़ी कोऊ नाहिं राखत पर तें देत निकार ॥  
संतबाणी संग्रह, भाग-2 पृ. 46
5. भूठा छुपना यह संसार ।  
दोसत है बिनसत नहीं ही बार ॥ हिन्दी पद संग्रह, पृ. 133

क्यों से प्राप्त किया। सारा संसार स्वार्थ की ओर गिहारता है, पर तुम्हें स्व-  
कल्याण रूप स्वार्थ नहीं रहता। इस अपवित्र अचेतन देह में तुम कैसे मोहासक्त  
हो गये। अपना परम अतीन्द्रिय शाश्वत सुख छोड़कर पंचेन्द्रियों की विषम-  
वासना में तन्मय ही रहे ही। तुम्हारा वैतन्य नाम जड़ क्यों हो गया और तुमने  
अनंत ज्ञानादिक गुणों से मुक्त अपना नाम क्यों मुला दिया ? त्रिलोक का  
स्वतन्त्र राज्य छोड़कर इस परतन्त्र अवस्था को स्वीकारते हुए तुम्हें लज्जा नहीं  
आती ? मिथ्यात्व को दूर करने के बाद ही तुम कर्ममल से मुक्त हो सकोगे और  
परमात्मा कहला सकोगे। तभी तुम अनन्त सुख को प्राप्त कर मुक्ति प्राप्त कर  
सकोगे।

“जीव ! तू भूषणना कित पायो।

सब जग स्वार्थ को चाहता है, स्वार्थ तोहि न भायो।

अशुचि समेत दृष्टि तन मांही, कहा ज्ञान विरमायो।

परम अतिन्दी निज सुख हरि के, विषय रोग लपटाओ ॥<sup>1</sup>

मिथ्यात्व को ही साधकों ने मोह-माया के रूप में चित्रित किया है। सगुण  
निर्गुण कवियों ने भी इसको इसी रूप में माना है। भूधरदास ने इसी को 'सुनि  
ठगनी माया तैं सब जग ठग खाया'<sup>2</sup> कबीर ने इसी माया को छाया के समान  
बताया जो प्रयत्न करने पर भी ग्रहण नहीं की जा सकती, फिर भी जीव उसके  
पीछे दौड़ता रहता है।

साधक कवि नरभव की दुर्लभता समझकर मिथ्यात्व को दूर करने का  
प्रयत्न करता करता है। जैन धर्म में मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्लभ माना गया है। इसी-  
लिए हर प्रकार से इस जन्म को सार्थक बनाने का प्रयत्न किया जाता है।  
खानतराय ने “नाहिं ऐसी जनम बारम्बार”<sup>3</sup> कहकर यही बात कही है। उनके  
अनुसार यदि कोई नरभव को सफल नहीं बनाता, तो “अन्ध हाथ बटेर भाई,  
तजस्त ताहि गंवार” वाली कहावत उसके साथ चरितार्थ हो जायेगी।<sup>4</sup> इसलिए  
उन्हें कहना पड़ा 'जानत क्यों नहिं हे नर घातभजानी'<sup>5</sup> घातम चेतन को

1. अघ्यात्म पदावली, पृ. 360

2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 124

3. संत वाली संग्रह, भाग-9, पृ. 57

4. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 116

5. वही, पृ. 115

वाक्य-करते हुए कुनः यह कह उठता है कि संसार का हर पदार्थ आत्मगुरु है और  
तू अविनाशी है—

‘तू अविनाशी आत्मा, विनाशीक संसार भ’

परन्तु प्राण-मोह के चकर में पड़कर तू स्वयं की शक्ति को भूल गया है।  
तेरी हर प्रयासोच्छ्वास के साथ सोह-सोह के भाव उठते हैं। यही तीनों शीशों  
का चार है। तुम्हें तो सोह छोड़कर भजपन आप में लय जाका चाहिए।<sup>१</sup> आत्मा  
को अविनाशी और विबुद्ध बताकर उसे अनन्तबहुष्टय का धनी बताया। आत्म की  
इसी अवस्था को बरमात्मा कहा गया है।

संत कबीर ने भी जीव और ब्रह्म को पृथक् नहीं माना। अविद्या के कारण  
ही वह अपने भाप को ब्रह्म से पृथक् मानता है। उस अविद्या और भावा के दूर  
होने पर जीव और ब्रह्म झड़त हो जाते हैं—“सब घटि अन्तरि तू ही व्यापक, घट  
सरूपे सोई।<sup>२</sup> आनतराय के समान ही कबीर ने उसे आत्म ज्ञान की प्राप्ति करने  
वाला माना है।<sup>३</sup>

आत्मचिन्तन करने के बाद कवि ने भेदविज्ञान की बात कही। भेदविज्ञान  
का तात्पर्य है स्व-पर का विवेक। सम्यक्बुद्धि ही भेदविज्ञानी होता है। संसार-  
सागर से पार होने के लिए यह एक आवश्यक तथ्य है। आनतराय का विवेक  
जाग्रत हो जाता है और आत्मानुभूति पूर्वक चिन्तन करते हुए कह उठते हैं कि  
प्रब उन्हें बर्म-चक्रों की भी आवश्यकता नहीं। प्रब तो मात्र आत्मा की अनंत  
गुण शक्ति की ओर हमारा ध्यान है। सभी वैभाविक-भाव भष्ट हो चुके हैं और  
आत्मानुभव करके संसार-बुःख से छूटे जा रहे हैं।

“हम लामे भातम राम सौं।

विनाशीक पुद्गल की छाया, कौन रमै धन-धाम सौं ॥

समना-सुख घट में परपाद्यों, कौन काज है काम सौं।

बुद्धि भाव तलांजलि दीनों, भेल भयो निज ध्याम सौं।

भेद ज्ञान करि निज-पर देख्यो, कौन बिलोके धाम सौं।<sup>४</sup>

भेदविज्ञान पाने के लिए वीतरामी सद्गुरु की आवश्यकता होती है। हर  
धर्म में सद्गुरु का विशेष स्थान है। साधना में सद्गुरु का वही स्थान है जो

2. धर्म विलास, पृ. 165
2. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 105
3. यही, पृ. 89
4. अष्टास्य पदावली, 47, पृ. 358

परिहृत का है। जैन-साधकों ने पंच परमेष्ठियों को सद्गुरु मानकर उसकी उपासना, भक्ति और स्तुति की है। जैन दर्शन में सद्गुरु को प्राप्त और शक्ति-संबादी माना है। खानतराम को गुरु के समान और दूसरा कोई दाता दिखाई नहीं देता। उनके अनुसार गुरु उस अन्धकार को नष्ट कर देता है जिसे सूर्य भी नष्ट नहीं कर पाता। मेघ के समान सभी पर समान भाव से निस्वार्थ होकर वह ऊपाजल बरसाता है, नरक तिर्यत्त्व आदि गतियों से मुक्तकर जीवों को स्वर्ग-भोग में पहुंचाता है। अतः त्रिभुवन में दीपक के समान प्रकाश करने वाला गुरु ही है। वह संसार संसार से पार लगाने वाला जहाज है। विद्युत्-मन से उनके पद-पंकज का स्मरण करना चाहिए।

गुरु समान दाता नहीं कोई। आदि।<sup>1</sup>

संत साहित्य में भी कबीर, दादू, नानक, सुन्दर दास आदि ने सद्गुरु और सत्संग के महत्व को जैन कवियों की ही भांति शब्दों के कुछ हेर-फेर से स्वीकार किया है। खानतराय कबीर के समान उन्हें कृतकृत्य मानते हैं। जिन्हें सत्संगति प्राप्त हो गई है—“कर कर संगत, सगत रे भाई।”<sup>2</sup>

भेदविज्ञान की प्राप्ति के लिए सद्गुरु मार्गदर्शन करता है। उसकी प्राप्ति के लिए सम्यग्दर्शन, सम्यक्ज्ञान और सम्यक्चारित्र्य का समन्वित रूप-रत्न त्रय मना गया है। भेदविज्ञान को ही सम्यग्ज्ञान कहा गया है। अन्तरंग और बहिरंग सभी प्रकार के परिग्रहों से दूर रहकर परिषद् सहते हुए तप करने से परम-पद प्राप्त होता है।<sup>3</sup> साधक कवि खानतराय आत्ममानुभव करने पर कहने लगता है “हम लागे आतमराम सौं। उसकी आत्मा में समता सुख प्रकट हो जाता है, दुविधाभाव नष्ट हो जाता है और भेद विज्ञान के द्वारा स्व-पर का विवेक जाग्रत हो जाता है इसलिए खानतराय कहने लगते हैं कि आतम अनुभव करना रे भाई।”<sup>4</sup> कवि यहां आत्मानुभूति प्रधान हो जाता है और कह उठता है “मोह कब ऐसा दिन आय है” जब भेदविज्ञान हो जायेगा।

संत साहित्य में भी स्वानुभूति को महत्व दिया गया है कबीर ने “राम रतन पाया रे करम विचारा. नैना नैन अगोचरी,<sup>5</sup> आप पिछाने आपे आपे

1. खानत पद संग्रह, पृ. 10
2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 137
3. हिन्दी पद संग्रह, खानतराय, पृ० 109-141
4. हिन्दी पद संग्रह, खानतराय, पृ. 109-141
5. कबीर ग्रन्थावली, पृ. 241
6. वही पृ. 318



जैसे उखरलों के माध्यम से अनुभव की प्राप्ति का को स्पष्ट किया है। यादू ने भी इसी प्रकार से “सो हम देखा नैन गरि, सुन्दर सहज स्वल्प” के रूप में अनुभव किया।<sup>1</sup>

स्वानुभूति के संदर्भ में मन एकाग्र किया जाता है और इसके लिए मन नियमों का पालन करना आवश्यक है। योंही ही धर्मेध्यान और कुशलध्यान को प्राप्त कर पाता है। यही समभाव और समरतता की अनुभूति होती है। धानतराय ने इस अनुभूति को नूने का नुन माना है।<sup>2</sup> इस सहज साधना में ज्ञापना ज्ञाप, नाम स्मरण को भी महत्व दिया गया है। ज्ञापहार तय की कृषि से आप करना अनुचित नहीं है, निश्चय तय की दृष्टि से उसे बाह्य किया माना है। तभी धानतराय ऐसे सुमरन को महत्त्व देते हैं जिससे—

ऐसी सुमरन करिये रे भाई ।  
 पवन धर्म मन कितहु न जाइ ॥  
 परमेसुर सौं साची रह्योई ।  
 लोक रंचया भय तजि दीर्य ।  
 यम धरु नियम दोड़ विधि चारौ ।  
 प्रासन प्राणायाम समारी ॥  
 प्रत्याहार चारना कीर्य  
 ध्यान समाधि महारस पीर्य ॥<sup>3</sup>

उसी प्रकार अनहद नाद के विषय में लिखते हैं—

अनहद सबद सदा सुन रे ॥  
 आप ही जानै और न जानै,  
 कान बिना सुनिमे चनु रे ॥  
 भयर गुंज सम ह्येत निरन्तर,  
 ता अंतर मति चितवन रे ॥<sup>4</sup>

इसीलिए धानतराय ने सोह को तीन लोक का सार कहा है। बिन साधकों के श्वालोच्छ्वास के साथ सदैव ही “सोहं सोहं” की ध्वनि होती रहती है और जो सोहं के धर्म को समझकर, ज्ञापना ज्ञाप की साधना करते हैं, वे ठ हैं—

1. यादूव्याल की बानी, भाग-1 पंखा की संग, 97,98,109
2. धानतराय, कलकत्ता
3. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 119
4. यही, -118 पृ. 119-20

सोहं सोहं नित, सांस उसास मन्कार ।  
 ताको अरथ विचारिये, तीन लोक में सार ॥.....  
 जैसे तैसो धार, बाप निहचं तजि सोहं ।  
 भजपा जाप संभार, सार सुख सोहं सोहं ॥<sup>1</sup>

ग्रामन्दघन का भी यही मत है कि जो साधक आशाओं को मारकर अपने अन्तःकरण में भजपा जाप को जपते हैं वे चेतनमूर्ति निरंजन का साक्षात्कार करते हैं।<sup>2</sup> कबीर आदि सतों ने भी सहज—साधना, शब्द सुरति और शब्द ब्रह्म की उपासना की। ध्यान के लिए भजपा जाप और नाम जप को भी स्वीकार किया है।<sup>3</sup> सहज समाधि को ही सर्वोपरि स्वीकार किया है।<sup>4</sup>

साधक कवि को परमात्मपद पाने के लिए योग साधना का मार्ग जब दुर्गम प्रतीत होता है तो वह प्रपत्ति (भक्ति) का सहारा लेता है। रहस्य साधकों के लिए यह मार्ग अधिक सुगम है इसलिए सर्व प्रथम वह इसी मार्ग का भव-नन्दन लेकर क्रमशः रहस्य भावना की चरम सीमा पर पहुँचता है। रहस्य भावना की भूमिका चार प्रमुख तत्वों से निर्मित होती है—आस्तिकता, प्रेम और भावना, गुण की प्रधानता और सहज मार्ग। जैन साधकों की आस्तिकता पर सन्देह की आवश्यकता नहीं। उन्होंने तीर्थंकरों के सगुण और निगुण दोनों रूपों के प्रति अपनी अनन्य भक्ति भावना प्रदर्शित की है। छानतराय की भगवद् प्रेम भावना उन्हें प्रपत्त भक्त बनाकर प्रपत्ति के मार्ग को प्रशस्त करती है।

प्रपत्ति का अर्थ है अनन्य शरणागत होने अथवा आत्मसर्पण करने की

भावना। नवधाभक्ति का मूल उत्स भी प्रपत्ति है। भागवत पुराण में नवधा-भक्ति के 9 लक्षण हैं—श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसेवन (शरण), अर्चना, वंदना, दास्यभाव, सख्यभाव और आत्म निवेदन। कबिबर बनारसीदास ने इनमें कुछ अन्तर किया है।<sup>5</sup> पाचरात्र लक्ष्मी संहिता में प्रपत्ति की षड्विधायें दी गई हैं—

1. अर्नविलास, पृ. 65
2. ग्रामन्दघन बहोसरी, पृ. 359
3. अनहृष शब्द उठे क्लृप्तकार, तहं प्रभु बैठे समरथ सार। कबीर ग्रन्थावली पृ. 301
4. संतो सहज समाधि भली। कबीर वाखी, पृ. 262
5. अवन, कीरतन, चितवन, सेवन बन्दन ध्यान।  
 लघुता समता एकता नीचा भक्ति प्रमान ॥

अनुकूल संकल्प, प्रातिकूल्य का विसर्जन, संरक्षण, एतद्वय विश्वास, गोप्तृत्व रूप में बरख, आत्म निक्षेप और कार्यभ्यर्थात् । प्रपत्ति भाव से प्रेरित होकर मरु के मन में धाराध्य के प्रति श्रद्धा और प्रेम भावना का अतिरेक होता है । धानतराय अपने भागों की सार्वकता को तभी स्वीकार करते हैं जबकि वे धाराध्य की ओर झुके रहें—

रे जिय जनम लाहो तेह ।  
 बरन ते जिन भवन पहुँचे, दान वें तर जेह ॥  
 सर सोई जा में क्या है, बख कश्मिर को वेह ।  
 जीभ लो जिन नाम गाबे, साँच लो करे तेह ॥  
 अरुख ते जिनराज देखें और झाँसैं लेह ।  
 धवन ते जिन बचन सुनि शुभ तप तपे सो देह ॥<sup>8</sup>

कविवर धानतराय में प्रपत्ति की लगभग सभी विशेषतायें मिलती हैं । भक्त कवि ने अपने धाराध्य का गुण कीर्तन करके अपनी भक्ति प्रकट की है । वह धाराध्य में प्रसीम गुणों को देखता है पर उन्हें अभिव्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण कह उठता है—

प्रभु में किहि बिधि धुति करीं तेरी ।  
 गणघर कहत पार नहि पाये, कहा बुद्धि है तेरी ॥  
 शक्र जनम भरि सहस जीम धरि तुम जस होत न पूरा ।  
 एक जीभ कैसे गुण गाबे जचू कहै किमि सूरा ॥  
 चमर अन्न सिंहासन बरनों, ये मुख तुम वें त्यारे ।  
 तुम गुण कहन बचन बल नहि, नैन चिने किमि तयरे ॥<sup>8</sup>

कवि को पार्ष्वनाथ दुःखहर्ता और सुखकर्ता दिखाई देते हैं । वे उन्हें विघ्न-विनाशक, निर्बन्धों के लिए द्रव्यदाता, पुत्रहीनों को पुत्रदाता और कष्टार्थियों के निवारक बताते हैं । कवि की भक्ति से भरा पार्ष्वनाथ की महिमा का अर्थ वृष्टव्य है—

सुखी दुःखहर्ता सुखी सुखलकर्ता ।  
 सदा शेषकों को महानन्द भर्ता ॥

1. अनुकूलस्य संकल्पः प्रातिकूलस्य विसर्जनम् ।  
 रक्षिष्यसीति विश्वासो, गोप्तृत्व बरखं तथा ।  
 आत्मनिक्षेपकार्पण्ये षड्विधा धारणापत्तिः ॥
2. धानतराय संग्रह, 9 पृ. 4, कलकत्ता
3. धानत नव संग्रह. पृ. 45

दूरे यक्ष राक्षस भूतं पिशाचं ।  
 विषं शकिकीं विघ्न के भय भवाचं ॥  
 दरिद्रीण को ह्यभ्य के दान दाने ॥  
 मयुमीन कीं तू भले पुत्र कीने ॥  
 महासंकटों से निकारै विधाता ।  
 सर्व संपदा सर्व को देहि दाता ॥<sup>1</sup>

नामस्मरण प्रपत्ति का एक अन्यतम अंग है जिसके माध्यम से भक्त अपने इष्ट के गुणों का अनुकरण करना चाहता है। धानतराय प्रभु के नामस्मरण के लिए मन को सचेत करते हैं जो ब्रह्मजाल को नष्ट करने में कारण होता है—

रे मन भ्रज भज दीनदयाल ॥  
 जाके नाम लेत इक खिन मे, कटै कोटि ब्रह्मजाल ॥  
 पार ब्रह्म परमेश्वर स्वामी, देखत होत निकाल ॥  
 सुमरन करत परम सुख पावत, सेवत भाजै काल ॥  
 इन्द्र फणिन्द्र चक्रधर गार्वै, जाकी नाम रसाल ।  
 जाके नाम ज्ञान प्रकासै, नासै मिथ्याजाल ।  
 सोई नाम जपो नित ध्यानत, छाडि विषै विकराल ॥<sup>2</sup>

प्रभु का नामस्मरण भक्त तब तक करता रहता है, जब तक वह तन्मय नहीं हो जाता। जैनाचार्यों ने स्मरण और ध्यान को पर्यायवाची कहा है। स्मरण पहले तो एक-एक कर चलता है, फिर शून्य-शून्य: एकांतता घाती जाती है और वह अभाव का रूप धारण कर लेता है। स्मरण में जितनी अधिक तल्लीनता बढ़ती जायेगी वह उतना ही तद्रूप होता जायेगा। इससे सांसारिक विभूतियों की प्रवृत्ति छोटी आकस्मिक है किन्तु हिन्दी के जैन कवियों ने भाष्यारिभक्त सुख के लिए ही बल दिया है। विशेषरूप से ध्यानवाची स्मरण जैन कवियों की अमूर्त विशेषता है। धानतराय अरहन्तवैव का स्मरण करने के लिए प्रेरित करते हैं। वे स्वातंत्र्यपूजादि छोड़कर प्रभु के निकटतर पहुँचना चाहते हैं—

अरहन्त सुमरि मन वाधरे ॥

व्याप्ति लाभ पूजा तजि भाई । अन्तर प्रभु ली जाव रे ॥<sup>3</sup>

- 
1. बृहज्जिनवाणी संग्रह, कलकत्ता से प्रकाशित
  2. हिन्दी पद संग्रह, पृ. 125-26
  3. यही, पृ. 139

कवि आराध्य का दर्शन कर भक्तिबध्द उनके समक्ष अपने पूर्वजन्म कर्मों का पश्चात्ताप करता है जिससे उसका मन हल्का होकर भक्तिभाव में और अधिक लीन हो जाता है। वे पश्चात्ताप करते हुए कह सकते हैं—'हम तो कबहुं न मित्र बर भाये ॥ पर घर फिरत बहुत दिन बीते नांव अनेक बराये ॥' पश्चात्ताप के साथ भक्ति के बल आराध्य को उपालम्भ देते हुए कुछ मुखर हो उठते हैं और कह देते हैं कि आप स्वयं तो मुक्ति में जाकर बैठ गये पर मैं अभी भी संसार में भटक रहा हूँ। तुम्हारा नाम हमेशा मैं जपता हूँ पर मुझे उससे कुछ मिलता नहीं। और कुछ नहीं तो कम से कम राग द्वेष को तो दूर कर ले लीजिए—

तुम प्रभु कहियत यीन दबाल ।  
 आपन जाय मुकति मे बंटे, हम छु रखत जग जास ॥  
 तुमरो नाम जपं हम नीके, मनबच तीनों काल ।  
 तुम तो हमको कछु देत नहि, हमरो कौन हवाल ॥  
 बुरे भले हम भगत तिहारे जानत हीं हम चाल ।  
 और कछु नहि यह चाहत हैं, राम द्वेष को टाल ॥  
 हम सौं चूक परो सौ बरसौ, तुम तो कृपा विशाल ।  
 घानत एक बार प्रभु जगतैं, हमको लेहु निकाल ॥<sup>2</sup>

एक अन्यत्र स्थान पर कवि का उपालम्भ देखिये जिसमें वह उद्गार किये गये व्यक्तियों का नाम गिनाता है और फिर अपने इष्ट को उलाहना देता है कि मेरे लिए आप इतना विलम्ब क्यों कर रहे हैं—

मेरी बेर कहा ढील करी जी ।  
 सूली सौं सिंहासन कीना, सेठ सुदर्शन निपति हरी जी ॥  
 सीता सती अगनि मे बैठी पावक नीरं करी सगरी जी ।  
 बारिबेण पै खडग चलायां, फूल माल कीनी सुथरी रीं ।  
 घानत में कछु जांचत नाहीं, कर वैराग्य दशा हमरी जी ॥<sup>3</sup>

इस प्रकार प्रपन्न भावना के सहारे साधक अपने आराध्य परमात्मा के साक्षिण्य में पहुँचकर तत्तद्गुणों को स्वात्मा में उतारने का प्रयत्न करता है। इसमें श्रद्धा और प्रेम की भावना का अतिरिक्त होने के फलस्वरूप साधक अपने

1. वही, पृ. 109
2. हिन्दी पद्य संग्रह, पृ. 114-15
3. धर्मविज्ञान, 54 वा पद्य

काराध्य के रंग में रंगने लगता है। तद्रूप हो जाने पर उसका दुविधाभाव समाप्त हो जाता है और समरस भाव का प्रादुर्भाव हो जाता है। वहीं सांसारिक दुःखों से अस्त जीव आश्रय की प्राप्ति कर लेता है।

निर्गुण सन्तों ने भी प्रपत्ति का भाव नही छोड़ा। वे भी 'हरि म मिले बिन हिरवे सूष' जैसा अनुभव करते हैं और दुःख विश्वास के साथ कहते हैं— 'अब मोही राम भरोसों-तेरा, और कौन का करों निहोरा'।<sup>1</sup> कबीर और तुलसी आदि सगुण भक्तों के समान छानतराय को भगवान में पूर्ण विश्वास है— 'अब हब मेमि जी को करण और ठौर न मन लगता है, छाँड़ि प्रभ के मरन'।<sup>2</sup> इस प्रकार प्रपत्त भावना मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य में समान रूप से प्रवाहित होती रही है। उपालम्भ, परचासाप, लघुता, समता और एकता जैसे तत्त्व उनकी भाव भक्ति में यथावत् उपलब्ध होते हैं।

मध्यकाल में सहज योगसाधना की प्रवृत्ति संतो में देखने को मिलती है। इस प्रवृत्ति को सूत्र मानकर छानतराय ने भी आत्मज्ञान को प्रमुक्तता दी। उनको उज्ज्वल दर्पण के समान निरजन आत्मा का उद्योग दिखाई देता है। वही निर्विकल्प शुद्धात्मा विद्वानन्दरूप परमात्मा है जो सहज—साधना के द्वारा प्राप्त हुआ है इसीलिए कवि कह, उठता है 'देखो भाई आतमराम विराज'। साधक अवस्था के प्राप्त करने के बाद साधक में मन में दुःखता भा जाती है और वह कह उठता है—

अब हम अमर भये न करेंगे।<sup>3</sup>

प्राध्यात्मिक साधना करने वाले जैन जैनेतर संतों एवं कवियों ने दाम्पत्य-मूलक रति भाव का अवलम्बन परमात्मा का साक्षात्कार करने के लिए लिया है। इसी सर्वम में प्राध्यात्मिक विवाहों और होलियों की भी सर्जना हुई है। छानतराय ने भी ऐसी ही प्राध्यात्मिक होलियों का सरस चित्रण प्रस्तुत किया है। वे सहज बसन्त आने पर होली खेलने का आह्वान करते हैं। दो दल एक दूसरे के सामने खड़े हैं। एक दल में बुद्धि, दया, क्षमारूप नारी वर्ग लड़ा हुआ है और दूसरे दल में रत्नत्रयादि गुणों से सजा आत्मा पुरुष वर्ग है। ज्ञान, ध्यान-

1. कबीर प्रत्यावृत्ति, पृ. 214
2. वही, पृ. 124
3. हिन्दी पद्य संग्रह, 140
4. हिन्दी पद्य संग्रह, पृ. 114
5. वही, पृ. 114

मन जब ताल धीरे धीरे बचते हैं, मन और प्रकृत नष्ट होना है, धर्म की ताल बनी का गुलाब उड़ता है, समता का रंग बोल किया जाता है, प्रतीति की तरह पिचकारीया चलती है। एक ओर से प्रकृत होता है कि तुम किसकी नारी हो, तो दूसरी ओर से प्रकृत होता है, तुम किसके बच्चे हो। भाव में होनी के रूप में अष्टकर्मिक ईश्वर को अनुभव करने जगति में बला देते हैं और प्रकृत: धर्मों और शक्ति हो जाती है। इसी विधानम् को प्राप्त करने के लिए कवि ने प्रेरित किया है—

प्रायो सहज बसन्त, खेरी खन होरी होरा ॥  
 इस बुद्धि दया छिपा बहुसुखी,  
 इस जिय रतन सर्ज सुन धोरा ॥  
 ज्ञान ध्यान डफ ताल बजत हैं,  
 मनहृद सब्द होत धन धोरा ॥  
 धरम सुराग गुलाल उड़त हैं,  
 समता रंग दुहु में धोरा ॥<sup>1</sup>.....

इसी प्रकार चेतन से समतारूप प्राणप्रिया के साथ "छिमा बसन्त" में होली खेलने का भाव कहते हैं। प्रेम के पानी में कण्डा की केसर धोलकर ज्ञान ध्यान की पिचकारी से होली खेलते हैं। उस समय गुरु के वचन की मूर्धन्य है, निश्चय व्यवहार नय ही ताल हैं, संयम ही इत्र है, विमल व्रत ही बौला है, भाव ही गुलाल है जिसे अपनी धोरी में भर लेते हैं, धरम ही मिठाई है, तप ही देवा है, समरस से भ्रान्दित होकर दोनों होली खेलते हैं। ऐसे ही चेतन और समता की जोड़ी चिरकाल तक बनी रहे, यह भावना सुमति अपनी सखियों से अभिव्यक्त करती है—

चेतन खेला होरी ॥

सत्ता सुमि छिपा बसन्त में, समता-पान प्रिया संग गोरी ॥  
 मन को मार प्रेम को पानी, तामें करुना केसर धोरी ॥  
 ज्ञान ध्यान पिचकारी भरि भरि, प्राप में छार होत होरी ॥  
 गुरु के वचन मृदु ब बजत हैं, नय दोनों डफ ताल ठकोरी ॥  
 संजय व्रत विमल व्रत बौला भाव गुलाल भरें भर धोरी ॥  
 धरम मिठाई तप बहुमेवा, समरस भ्रान्दित भ्रमल कठोरी ॥

मानत सुमति सखी सखियन सो, चिरजीवो यह नुन जुप धोरी ॥<sup>2</sup>

सत्ता ने परमात्मा के साथ भावनात्मक मिलन करने के लिए साध्यात्मिक विवाह किया, संसाराच्छर भी हुए और उसके विद्योय से सन्तुष्ट भी हुए। कनारसी-वास ने भी परमात्मा की स्थिति में पहुंचाने के लिए साध्यात्मिक विवाह, विद्योय

1. यही, पृ. 119

2. हिन्दी पद्यसंग्रह, पृ. 121

श्रीरक्षक होकर परमात्मा के रंभ में रंभ जाने के लिए होली होती। अंत कवि कबीर अर्थात् अपनी सुरियों को साहब से रमवाते रहे और उसे अनेक परम्परा के रंभ में समरस हो गये। ये त्रिगुणिया संत आध्यात्मिकता, अज्ञानता और अविद्या की शीघ्रा में बिरहे हैं। उनकी सम्मना में विचार और प्रेम का सुन्दर सम्बन्ध हुआ है तथा अज्ञानता से वह अनुप्राणित है। कवि आनन्दराय ने भी इसी परम्परा का अलम्बन लिया है। निर्गुण और सगुण दोनों परम्पराओं को उन्होंने स्वीकारा है।

समूचा हिन्दी जैन साहित्य आन्ता भक्ति से परिपूरित है उसका हर कवि एक और परमात्मा का भक्त है तो दूसरी ओर आत्मकल्याण करने के लिए तत्पर भी दिखाई देता है, इस दौर में वे अपनी पूर्व परम्परा का अनुकरण करते हुए संतो की श्रेणी में बैठ जाते हैं कवि आनन्दराय एक उच्च कोटि के साधक भक्त कवि थे। उनका साहित्य संत कवियों की विचारधारा से मेल खाता है। यह बात अवश्य है कि आनन्दराय के साहित्य में जैनदर्शन के तत्त्व घुले हुए हैं जबकि सन्त अपरोक्ष-रूप से उन तत्त्वों को स्वीकारते हुए नजर आते हैं। आनन्दराय, योगीन्दु, मुनि राम-सिंह बनारसीदास, आनन्दधन, मंया भगवतीदास आदि जैसे जैन कवियों की परम्परा लिए हैं। सन्त कवि भी परम्परा से प्रभावित रहे हैं। इस प्रकार जैन और जैनेतर सन्त अपने-अपने दर्शनों की बात करते हुए प्रथक्-प्रथक् दिखाई देते हैं। परन्तु अज्ञानता: उनकी विचारधारा के मूल तत्त्व उतने भिन्न नहीं। आनन्दराय जैसे जैन कवि ने ऐसी ही परम्परा में घुल-मिलकर अपनी प्रतिज्ञा और साहित्य से सन्त साहित्य को प्रासनीय योगदान दिया है।

आश्चर्य की बात है कि ऐसे प्रतिभा सम्पन्न कवि का उल्लेख मात्र इसलिए नहीं किया गया कि वह जैन था। अन्यथा आज उसे अन्य जैनेतर कवियों जैसा स्थान मिल गया होता। रीतिकाल के भोग-विलास और भृंगार भरे वातावरण से अपनी कलम को अघ्यात्मनिरूपण और अहेतुक भक्ति की ओर मोड़ना साधारण प्रतिभा का कार्य नहीं था। भौतिकता की चकाचौंध में व्यक्ति अज्ञान हो गया था अतः उसे कुमार्ग पर जाने के लिए उन्होंने ससार की असारता सिद्ध करते हुए संसारी जीव को अपना कल्याण करने के लिए प्रेरित किया। उनका साहित्य भवसागर से पार उतरने के लिए प्रेरणा स्रोत है। सन्तों ने भी वृषित बाह्य क्रियाकांडों के विरुद्ध आवाज उठाकर संसारी जीव को आत्मकल्याण करने की सीख दी थी। इस प्रकार दोनों की वैचारिक विशेषतायें परम्परा से मेल खाती हैं। अतः हिन्दी साहित्य में आनन्दराय जैसे जैन कवियों के योगदान का यथोचित मूल्यांकन करना निराल्प आवश्यक है। इसके बिना हिन्दी साहित्य का इतिहास अधूरा ही कहलायेगा।

1. कबीर, पृ. 352-3, अर्जुनदास, सन्तवाणी संग्रह, भाग 2, पृ. 39, गुलाब-साहब की बानी, पृ. 22.



पुनरे बहू जयसागर अट्टारक महीचन्द्र के लिख्ये वे । उनका काल लगभग 17 वीं-शती के प्रकीर्ण निमित्त किया जा सकता है । उनके सीता हरण, चतुर्विधति जिन-स्तवण, शिन्धुकुलस सूरि बीपई आदि अनेक ग्रन्थ उपलब्ध हैं । सीताहरण ग्रन्थ को आशोर्षांत बहूने पर बहू स्पष्ट हो जाता है कि कवि ने यहाँ विमल सूरि की परम्परा का अनुसरण किया है । काव्य को शब्द मनोरंजन बनाने की दृष्टि से इषार-इषार के छोटे भाष्यानों को भी सम्मिलित कर दिया है । डाल, दोहा, शौटक, बीपई आदि छन्दों का प्रयोग किया है । हर अक्षिकार से छन्दों की विविधता है काव्यात्मक दृष्टि से इसमें लगभग सभी रखे का प्राचुर्य है । कवि की काव्य कुशलता शृंखर, वीर, शांत, प्रदभुत, कर्ण आदि रसों के माध्यम से अभिव्यञ्जित हुई है । वीच-वीच में कवि ने अनेक प्रचलित संस्कृत श्लोको को भी उद्धृत किया है । भाषाविज्ञान की दृष्टि से इस ग्रन्थ का अधिक महत्व है 'फ्लोकट' जैसे शब्दों का प्रयोग प्राकृतिक है । भाषा में जहाँ टाकस्थानी, मराठी, और गुजराती का प्रभाव है वही बुन्देलखण्डी बोली से भी कवि प्रभावित जान पड़ता है । मराठी और गुजराती की विभक्तियों का तो कवि ने अत्यन्त प्रयोग किया है । ऐसा लगता है कि बहू जयसागर ने यह कृति ऐसे स्थान पर लिखी है जहाँ पर उन्हें चारो भाषाओं से मित्त भाषा का रूप मिला हो । भाषाविज्ञान की दृष्टि से इसका प्रकाशन उपयोगी जान पड़ता है । भाषा विज्ञान के अतिरिक्त मूल-कथा के पोषण के लिए प्रयुक्त विभिन्न भाष्यानों का आलेखन भी इसकी एक अन्यतम विशेषता है ।

### प्रवृत्ति जैन कथा साहित्य

जैन साहित्य का एक विपुल भाग कथा और कोष साहित्य से भरा हुआ है । जैन सिद्धान्तों की व्याख्या करना कथा साहित्य की मूल सूत्रिका रही है । प्राच्य साहित्य से इन कथाओं को लेकर उनमें लोकतत्व का पुट देकर जैनधर्मों बड़े-बड़े कथा ग्रंथों का निर्माण संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश हिन्दी आदि भाषाओं में किया है । प्राकृत भाषा में निबद्ध उपदेशमाला प्रकरण, धर्मपदेशमाला विवरण, आख्यान मणिकोश, समराइच्छ कथा, सिरिवाल कथा, कुबलयमाला, तरंगवई कथा आदि और संस्कृत भाषा में निबद्ध बृहत्कथा कोष, कथाकोश, कथा महोदधि, बृहत्कथाकोश, पुण्याश्रयकथाकोश, धर्म परीक्षा, उपमिति भवप्रपञ्च कथा, भविष्यदत्त कथा आदि संकड़ी ग्रंथ हैं जो भाषा, शैली आदि की दृष्टि से बड़े प्रभावक कहे जा सकते हैं । इन्हीं का आधार लेकर हिन्दी में भी कथा साहित्य का सृजन हुआ है । यहाँ हम ऐसी कथाओं में सुगंधदशमी कथा को उदाहरण के तौर पर प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें श्रीराम पद्मिनी को ब्रह्मसम्पत्कता की-और छोड़ने के लिए अन्ध, भक्ति के माध्यम से नया आश्रम-कोला गया है ।

जीवन रहस्य की अभिव्यक्ति है। रहस्य की गहनता प्रतिक की गहनता है। उस रहस्य के अन्तर्गत तक पहुँचना रहस्य-श्रावक के लिए साधारणतया असंभव-सा है। अतः उसे सहजता पूर्वक जानने के लिए कथात्मक-रूप का प्रयोजन किया जाता है। सत्सार में जितनी लोक कथाएँ व प्रनुभूतियाँ उपलब्ध हैं, वे सभी जीवन के वैविध्य को समझने के मात्र साधन हैं। सुगन्ध दशमी कथा का भी इसी उपक्रम का एक सूत्र है।

जीवन विषमता का अथाह समुद्र है। उस विषमता से भी यह जीव सभता, सहजता और सुखानुभूति का रसास्वादन कर दुःखानुभूति से मुँह मोड़ना चाहता है दुःख की कासी बदली से, सुख के उज्ज्वल-प्रकाश की उपलब्धि मानता है और उसे ही आशय सत्य की प्रतिष्ठापना स्वीकारता है। इस चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए तथा आगत बाधाओं को तिरोहित करने के लिए अदृष्ट शक्ति की उपासना करने में प्रवृत्त होता है। उस प्रतीक की ओर उसका आकर्षण बढ़ने लगता है। माध्यम मिलते ही उसके साथ अनेक कथाओं के रूप स्वभावतः जुड़ जाते हैं।

परम्परानुसार सुगन्ध दशमी कथा स्वोपाजित कर्मों से विमुक्त होने का मार्ग है। प्रत्येक कथा की तरह इसे भी श्रेणिक के प्रश्न व गौतम के उत्तर से सम्बद्ध किया गया है। सुगन्ध दशमी व्रत के पालन के सन्दर्भ में गौतम के मुख से कथा कहलाई गई है। यह आख्यान प्रख्यात है। लेखको ने प्रायः एक ही ढाँचे में इस कथा को ढाला है। भिन्न-भिन्न लेखको व कवियों ने इसे अपनी लेखनी का विषय बनाया है। डॉ. हीरालाल जी जैन ने अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी, मराठी व गुजराती में उपलब्ध इस कथा को प्रकाशित कराया है। तिमोड़ा व शाहगढ़ से प्राप्त गुटकों में प्रकाशित सुगन्ध दशमी कथा के अतिरिक्त प्राकृत व संस्कृत में और भी अन्य कवियों द्वारा लिखी यह कथा मिली है। उन्हें भी प्रकाशित करने का प्रयत्न कर रही हूँ। अन्य अप्रकाशित साहित्य को खोजने से संभव है कि कथा के अन्य रूप भी मिल जायें।

वाराणसी (काशी) का राजा पद्मनाभ और उनकी महिषी श्रीमति सुखोप-बीग पूर्वक यौवन का आनन्द लेते हुए काल-यापन कर रहे हैं। वसन्त ऋतु के आग-मन पर दम्पति वसन्त स्त्रीला के लिए नगर के बाहर निर्मित उद्यान में जाते हैं। इसी प्रसंग में कोकिल ध्वनि को वसन्त रूपी नट और उसी के मुँह से रस, चर्चरी नृत्य व काव्य का रूप माना गया है। (1.5<sup>1</sup>)

1. प्रस्तुत प्रसंग में दिये गये उद्धरण डॉ. हीरालाल जी जैन द्वारा सम्पा-  
दित व अनुवित, अपभ्रंश की सुगन्धदशमी कथा से लिए गये हैं।

असन्त लीला के निमित्त जाति क्षय मार्ग में ही जैन मुनि का जन्म होता है। कसरी राघव प्रथमी श्रीमति को मुनि बन्धन की व्यवस्था करने पर बाधित भव देता है। श्रीमति मुनि के इस धारमन की बसन्त लीला में बिम्ब मानती है और क्रोधाधिष्ठ होकर उन्हें विसाक्त दुर्वन्धित कटु भोजन करा देती है। जात होने पर भी ज्ञान्त भाव से मुनि उस भोजन को ग्रहण करते हैं। और कुछे समय बाद कान कर्बलित हो जाते हैं (1.5)। श्रीमति के मन पर इसका दुष्प्रभाव पड़ता है और उसके शरीर में असहनीय दुर्गन्ध का संसर्ग यहीं से प्रारम्भ ही जाता है।

राजा पद्मनाभ श्रीमती को देश-निष्कासन का दण्ड देता है। विविध दुःखों का संसार लिये हुए रानी श्रीमती मरकर ब्रह्म की योगिनी पाती है। उससे बाद भ्रमरः सूकरी, साँभरी व चाण्डालिनी होती है। इन सभी जन्मों में उसने दुर्वन्धित शरीर पाया और मुनि प्रथवा मुनि के जीव पर क्रोध व्यक्त किया।

चाण्डालिनी योगिनी में जन्मी यह बालिका (श्रीमति) अत्यन्त दुर्वन्धित होने के कारण एक अटवी में छोड़ दी जाती है। प्रसंग वशात् उसे एक जैन मुनि के दर्शन होते हैं। वे उसे दस धर्मों के पालन का उपदेश देते हैं और इसी व्रत के उपदेश की दुर्गन्ध से मुक्त होने का एक मात्र मार्ग बताते हैं। अनन्तर आभिक जीवन व्यतीत करती हुई वहाँ से अच्युत होकर उज्जैन में एक दरिद्र ब्राह्मण के घर कुरुपिनी पुत्री के रूप में जन्म लेती है (1.7) पर वहाँ भी दुर्गन्ध उसका पीछा नहीं छोड़ती। उन्हीं मुनिराज को देख कर उसे जन्मान्तर का स्मरण हो जाता है और सूक्ष्म हो जाती है। मुनि उसे गोरस से सिञ्चित कर सचेत करते हैं। वहाँ श्रीमति के मुख से ही पूर्व धर्मों का विवरण दिया गया है (1.9)।

उज्जैन के राजा ने मुनिराज से इस कारुण्य दुःख से विमुक्त होने का मार्ग पूछा और उत्तर में मुनि ने सुगन्ध दशमी व्रत पालन करने का दिधान बताया। इसके बाद यहीं पर चमत्कृति लाने के निमित्त से विद्याधर की एक छोटी प्रवन्तर कथा का भी प्रसंग उपस्थित किया गया है। (1.10-12)

सुगन्धदशमी व्रत का पालन करने से दुर्वन्धा-कुरुपिनी ब्राह्मण-पुत्री मरकर रत्नपुर नगरी के श्रेष्ठीवर्य जिनदत्त के घर पुत्री तिलकमती हुई। उसका शरीर अत्यन्त रूपवान् और सुगन्धित था। परन्तु मुनि-कोप का दण्ड प्रथी भी योग्यता सेप था। तिलकमती की माता का वैवाहिक हृष्या। जिनदत्त ने पुनर्विवाह किया। उससे तेज-मती नाम की पुत्री हुई।

जिनदत्त को रत्न-भ्रम के स्वप्न में रत्नपुरी के राजा कनकवर्म से वैवाहिक भेजा। इधर सौतेली माता के बाधात्मक प्रयत्न के बावजूद तिलकमती का विवाह निश्चित हो गया। ईर्ष्यावशात् सौतेली माता ने सौतेलव पूर्वक सखे सम्मान में भेजा और कहा कि हे कुली ! तेरा श्रेष्ठ वर नहीं आकर तुमसे विवाह करेगा—“सखेसख को दत्त दय पसन्द, परिखावई अप्पुणु पुदि दत्तु।” यह कहकर तिलकमती के माता

घोर बार-बार कलश रख दिये। रात्रि में अपने सौच्यसाध से राजा कनकप्रभ ने उसे देखा और सब कुछ समझकर वहीं उससे विवाह किया और एक रात सहवास भी किया। बाद में अपना परिचय देकर वापिस चला और पुनः जाकर उसकी समूची व्यवस्था कर दी (2.3)।

इधर तिलकमती की सौतेली माता ने उसके चरित्र पर दोषारोपण किया और किसी चोर से उसे विवाहित बताया। इसी बीच जिनदत्त भा पहुँचे। तिलकमती की परीक्षा के निमित्त राजा ने भोजन का आयोजन किया और उसमें अपने पति को पहचानने का तिलकमती को आदेश दिया। पद प्रक्षालन के माध्यम से तिलकमती ने अपनी बन्धु आँसों से कनकप्रभ राजा को अपने पति रूप में पहचान लिया और कहा—यही वह चोर है जिसने मुझसे विवाह किया है, अन्य कोई नहीं “इह चोर वि जे हऊ परिणियाय, राउ भणु होइ इम अपिबश्य” (2.5) इसके बाद आयोजन समाप्त हुआ और नव दम्पति को जिन मन्दिर दर्शनार्थ ले जाया गया। वहाँ मुनि दर्शन हुए जो उन्हें उनके पूर्व भवान्तरों का स्मरण करा रहे थे।

इस कथा में सुगन्धदशमी व्रत के पालन की प्रक्रिया इस प्रकार दी हुई है। भाद्रपद शुक्ल पंचमी के दिन उपवास करना चाहिए और उस दिन से प्रारम्भ कर पांच दिन अर्थात् भाद्रपद शुक्ल नवमी तक कुसुमांजलि चढ़ाना चाहिए। कुसुमांजलि में फलस, बीजपुर, फोफल, कूष्माण्ड, नारियल आदि नाना फलों तथा पंचरंगी और सुगन्धी फूलों तथा महकते हुए उत्तम दीप, धूप आदि से खूब महोत्सव के साथ भगवान का पूजन किया जाता है। इस प्रकार पांच दिन नवमी तक दुष्पाञ्जलि लेकर फिर दशमी के दिन जिन-मन्दिर में सुगन्ध द्रव्यों द्वारा सुगन्ध करना चाहिए और उस दिन आहार का भी नियम करना चाहिए। उस दिन या तो प्रोसाच करे, और यदि सर्व प्रकार के आहार का परित्याग रूप पूर्ण उपवास न किया जा सके, तो एक बार मात्र भोजन का नियम तो अवश्य पाले। रात्रि को चौबीस जिन भगवान का अभिषेक करके दश बार दश पूजन करना चाहिए। एक दशमुख कलश की स्थापना करके उसमें दशांगी रूप सेना चाहिए। कुंकुम आदि दश द्रव्यों सहित जिन भगवान की पवित्र पूजा स्तुति करना चाहिए। पुनः ध्रुवतों द्वारा दश भागों में नाना रंगों से विभिन्न सूर्य मण्डल बनाना चाहिए उस मण्डल के दश भागों में दश दीप स्थापित करके उसमें दश मनोहर फल और दश प्रकार नैवेद्य चढ़ाते हुए दश बार जिन भगवान की स्तुति-वन्दना करना चाहिए। इस प्रकार की विधि पूर्वक मन वचन काय से पांचो इन्द्रियों की एकाग्रता सहित प्रति वर्ष करते हुए दश वर्ष तक करना चाहिए (1.11)

इस व्रत की उद्यापन विधि इस प्रकार दी हुई है। जब सुगन्धदशमी व्रत की विधि पूर्वक पालन करते हुए दश वर्ष हो जायें तब उस व्रत का उद्यापन करना चाहिए। मन्दिर जी में जिन भगवान का अभिषेक पूजन करना चाहिए। उपर्युक्त

जिन मन्दिर को पहले मनोहर पुष्पों से सजाना चाहिए, भांगने में बैदीबा तानना चाहिए, दशकन्याएँ कहराना चाहिए और मनोहर तारायें भी लटकाना चाहिए। मन्दिर जी को घण्टा बाजनों की जोड़ी, वृषदानी, प्रारती, दश पुस्तकें और दश बस्त्र भी बढ़ाना चाहिए तथा व्यक्तियों को औषधिदान देना चाहिए। जो व्रतधारी ब्रह्मचारी आदि आशक हों उन्हें दश बोलियों और दश आच्छानक का दान करना चाहिए। फिर दश मुनियों को षट्स युक्त पवित्र आक्षर देना चाहिए। दश कटोरियाँ पवित्र क्षीर और घी से भर कर दश श्रावकों के घरों में देना चाहिए। यदि इतना विधान करना या दान देना अपनी शक्ति के बाहर हो तो थोड़ा दान करना चाहिए। नाना स्वर्गों की प्राप्ति की जो नाना कहानियाँ कहीं जाती हैं, उनके समान ही इस व्रत के पालन करने से भी अत्यंत पुण्य की प्राप्ति होती है (1.12)।

सुगन्धदशमी कथा की भूमि कर्मों के विनाश की युक्ति पर ठिकी हुई है। इसलिए इसका उद्देश्य भी कर्मों का खण्डन करना और सांसारिक दुःखों को खींचकर उत्तम स्वर्गादि सुखों का अनुभव प्राप्त करना है। सुगन्ध दशमी व्रत का पालन मन में अनुराग सहित करना चाहिए। इससे कलिकाल के मल का अपहरण होता है और जीव अपने पूर्व में किये हुए पापों से मुक्त होता है (2.1)।

सुगन्धदशमी व्रत के फल में दृढ़ता लाने के लिए एक अन्य कथान्तर का सर्जन किया। गया मुनिराज सुगन्ध कन्या के पूर्व भवों का कथन करते समय एक देव अवतरित हुआ उसने स्वयं का अनुभव बताया कि उसने सुगन्धदशमी व्रत के प्रसन्न से अमरेन्द्र पद पाया (2.6)।

कथा का उपसंहार करते समय भी इसका फल संदर्शन किया गया है। (2.8.9)

इस कथा को मौलिक आधार व विकास के सन्दर्भ में डॉ. जैन सा. ने सुगन्ध-दशमी कथा की प्रस्तावना में पर्याप्त प्रकाश डाला है। प्राकृतिक और दिव्य शक्तियों से बचने के उपाय ऋग्वेद काल के पूर्व से ही मनुष्य करता आ रहा है। महाभारत का अस्त्रमन्त्रा कथानक सुगन्धदशमी कथा का प्रेरक सूत्र रहा होगा। वैदिक और जैन ऋषियों, मुनियों की प्रवृत्तियों एवं साधनाओं में जो मौलिक अन्तर है उसका प्रभाव कथानकों के मानस पर भी पड़े बिना नहीं रहता। सुगन्धदशमी कथा में भी एक परिवर्तन स्पष्ट दिखाई पड़ता है। नायाधम्मकुहापो के सोलहवें अध्यायन में लोग भी वृत्र मुनि को कबु तुम्ही का आहारदान देना और उसके फलस्वरूप अनेक जन्मों में दुःख पाने भी इस प्रकार की कथा है, इसी तरह हरिमत्स्य (750 ई.) की साययपण्णसि, जिनसेन (शक सं. 707-785) का हरिवंश पुराण, हरिवंश का कृष्ण कथा कोष, श्रीचन्द्र का अपभ्रंश कथा कोष तथा अन्य अप्रकाशित ग्रंथों में

व्यक्ति कथानक भी सुगन्ध दशमी कथा जैसी भाव भूमि पर स्थापित पाठक तक पहुँचते हैं। इन सभी कथानकों में मुनि निन्दा और उसका फल त्रिभिष्ट प्रतिपाद किया है। सम्भव है, ये कथानक मुनियों के प्रति अज्ञातभाव जाग्रत रखने, निन्दा बनकर काव्यों से दूर रहने और जैन धर्म के प्रति अनुराग प्राप्तिक पूर्वक आत्मोद्धार की दृष्टि के निमित्त किये गये हैं। यहाँ पूजा विधान का विकास भी दृष्टव्य है।

कथानक का प्रारम्भ वाराणसी (काशी) के बरगं से होता है। पाठक की जिज्ञासा अन्त तक बनी रहती है कि श्रीमती का जीव कहां और कैसे गया। कथा में संघर्ष और चरम सीमा तथा उपसंहार भी दिया गया है। कथा वस्तु अर्ध-ऐतिहासिक-पौराणिक प्रख्यात है। पात्र व चरित्र साधारणतः ठीक हैं। वर्तमान में प्रचलित कहानी के तत्त्व इस कथा में किसी न किसी रूप में उपलब्ध हो जाते हैं परन्तु वे इतने सशक्त नहीं कि उनकी तुलना कहानियों से की जा सके। पौराणिक आख्यानों के तत्व अवश्य ही इस कथा में शत-प्रतिशत निहित हैं। उद्देश्य व शैली मनोहारी है।

इस प्रकार सुगन्धदशमी कथा के विश्लेषण से स्पष्ट है कि वह मानव के आत्म कल्याण की पृष्ठभूमि में स्थापित की गई है और उसका महत्व जीवन में सामाजिक, धार्मिक, नैतिक और लौकिक दृष्टि से उत्कृष्ट है।

### कोश सेखन प्रवृत्ति

किसी भाषा और उसमें रचित साहित्य का सम्यक् अध्ययन करने के लिए तत्सम्बद्ध कोशों की नितान्त आवश्यकता होती है। वेदों और संहिताओं को समझने के लिए निघण्टु और निरुक्त जैसे कोशों की रचना इसीलिए की गई कि जनसाधारण उनमें सन्निहित विशिष्ट शब्दों का अर्थ समझ सकें। उत्तरकाल में इसी आधार पर संस्कृत, पालि और प्राकृत के शब्दकोशों का निर्माण आचार्यों ने किया। अमरकोश, विश्वलोचनकोश, नाममाला, अग्निधानपदीपिका, पादयलक्ष्मी नाममाला आदि जैसे अनेक प्राचीनकोश उपलब्ध हैं। इनमें कुछ एकाधर कोश हैं और कुछ अनेकार्थक शब्दों को प्रस्तुत करते हैं। कुछ देशी नाममाला जैसे भी शब्दकोश हैं, जो देशी शब्दों के अर्थ को प्रस्तुत करते हैं।

इसी प्रकार की अन्य व्रत कथाओं भी उपलब्ध हैं जिनका विश्लेषण अंतर्गत के किन्ताकाण्ड के बिकाशात्मक इतिहास को प्रतिबिम्बित करता है। यह साहित्यिक प्रयः मध्यकालीन हैं।

इस कोशों के प्रतिरिक्त काल में प्रयुक्त संस्कृत शब्दों का पारिभाषिक संस्कृत कोश का भी उल्लेख मिलता है जिसकी रचना 1139-1149 ई. में हुई थी। प्राच्यार्थ हेमचन्द्र सूरि की अविभक्त चिन्तामणि (1582 श्लोक) में भी पारिभाषिक शब्दों को अन्तर्भूत किया गया है। इसमें कई शैविक और शिव, जीवों प्रकृत के शब्दों का उल्लेख है। उन्हीं के अनेकार्थ संग्रह (1931 श्लोक), निचण्डु वेप (395 श्लोक) और सिन्धु मन्थन (138 श्लोक), जैसे महत्त्वपूर्ण कोश ग्रंथ भी हैं जो सांस्कृतिक सामग्री से भरे हुए हैं। अन्य कोशों में किन्देव सूरि की अक्षरमाला विलोख (149 श्लोक), हेमचन्द्र सूरि की वेप नाममाला (208 श्लोक), यज्ञानन्द का अनेकार्थ ध्वनि मंचरी (224 श्लोक), हर्ष कवि का विक्रम कोश निचण्डु (236 श्लोक), विश्व ब्रम्हू की एकाक्षर नाममाला (115 श्लोक), किन्देव सूरि की अक्षरमाला नाममाला, महेश्वर सूरि कृत विश्व प्रकाश इति, लघु सुन्दरवर्णिका का अक्षरमाला (1011 श्लोक), रायचन्द्र का देव्यनिवेश निचण्डु, विमल सूरि का देव्यमन्त्र समुच्चय, विमल सूरि की देशीनाममाला, पुष्प रत्नसूरि का अक्षरमाला, अनेक कवि का नानार्थ कोश, रामचन्द्र का नानार्थ संग्रह, हर्ष कीर्ति की नाममाला, जगन्नाथ चन्द्र का नाम संग्रह कोश, हर्ष कीर्ति सूरि की लघुनाममाला आदि संस्कृत जैन कोश जैन साहित्य की अमूल्य निधि हैं। इसी प्रकार प्राकृत शब्द कोशों में जनपाल कृत पाण्ड्य लक्ष्मी नाममाला, हेमचन्द्र की देशी नाममाला और देव्यमन्त्र संग्रह में दामोदर कृत उक्ति व्यक्ति प्रकरण, सुन्दरगणिकृत उक्तिरत्नाकर भी उल्लेखनीय कोश ग्रंथ हैं। प्राचीन हिन्दी में भी कुछ कोश ग्रंथ उपलब्ध हुए हैं।

इस प्राचीन कोश-साहित्य के अध्ययन से हम कोशों की कुछ विशेष बातों में विभाजित कर सकते हैं। उदाहरणतः व्युत्पत्ति कोश, पारिभाषिक कोश, अर्थकोश, व्यक्तिकोश, स्वाम कोश, एक भाषा कोश, बहुभाषा कोश आदि। इस कोशों के माध्यम से साहित्य की विभिन्न विधाओं एवं उनमें प्रयुक्त विशिष्ट शब्दों के आचार पर भाषा वैज्ञानिक तथा सांस्कृतिक इतिहास की संरचना भी की जा सकती है।

सांस्कृतिक कोशों का प्रारम्भ उन्नीसवीं शताब्दी से माना जा सकता है। इस कोशों की रचना शैली का आचार पाश्चात्य विद्वानों द्वारा विकसित शब्द कोश रहा है। उन्नीसवीं-बीसवीं शताब्दी में अनेक और जैन जैन साहित्य तथा जैन के विद्वानों ने भी कुछ कोशग्रंथों का निर्माण किया है। अनेकानों के लिए अनेकी अन्यायिता निधिवाद रूप से लिखे हुए हैं। ऐसे कोश ग्रंथों में हम विशेष रूप से अनेकान रावेन्द्र कोश, पाण्ड्यलक्ष्मीरत्न, अर्थनामनी विकसनरी, अनेकान विद्वानों कोश तथा जैन अक्षरमाला का उल्लेख कर सकते हैं। यहां हम विशेष में इन कोशग्रंथों का सुसंगत रूप से उल्लेख करेंगे।

### 1. अग्निषानराजेन्द्रकोश

इस कोश के निर्माता श्री विजय राजेन्द्र सूरि का जन्म सं. 1883, पीथ बुकल सप्तमी, गुरुवार (सन् 1829) को भरतपुर में हुआ। आपकी बास्बाबस्या का नाम रत्नराज था, पर सं. 1903 में स्थानकवासी सम्प्रदाय में दीक्षित होते पर रत्न विजय हो गया। बाद में उन्होंने व्याकरण, दर्शन आदि का अध्ययन किया। सन् 1923 में वे मूर्ति पूजक सम्प्रदाय में दीक्षित हुए और विजय राजेन्द्र सूरि के नाम की आचार्य पदवी प्राप्त की। उन्होंने अनेक मन्दिर बनवाये और उनकी प्रतिष्ठाएँ करायीं। वे अनेक प्रवक्ता और आस्त्रार्थ कर्ता थे। उपाध्याय बालचन्द्र जी से उनका आस्त्रार्थ हुआ और वे विजयी हुए। आपकी विद्वत्ता के प्रमाण स्वरूप आपके अनेक ग्रंथ हैं जिनमें अभिषान राजेन्द्र कोश, उपदेश रत्न सार, सर्वसंग्रह प्रकरण, प्राकृत व्याकरण विद्वत्ति, शब्द कौमुदी, उपदेश रत्न सार, राजेन्द्र सूर्योदय आदि प्रमुख हैं। उनके ग्रन्थों से उनकी विद्वत्ता स्पष्ट रूप से भलकती है। श्री सूरि का अन्त काल 31 दिसम्बर सन् 1906 में राजगढ़ में हुआ।

अभिषान राजेन्द्र कोश के लेखक विजय राजेन्द्र सूरि ने जैन साहित्य के अध्ययन-अध्यापन के दौरान यह अनुभव किया कि एक ऐसा जैन-भागम कोश होना चाहिए जो समूचे जैन दर्शन को प्रकारादि क्रम से संयोजित कर सके। लेखक ने अपने कोश ग्रन्थ की भूमिका में लिखा है कि "इस कोश में प्रकारादि क्रम से प्राकृत शब्द, बाद में उनका संस्कृत में अनुवाद, फिर व्युत्पत्ति, लिंग निर्देश तथा जैन भागमों के अनुसार उनका अर्थ प्रस्तुत किया गया है। लेखक का दावा है कि जैन भाषण का ऐसा कोई भी विषय नहीं रहा जो इस महाकोश में न आया हो। केवल इस कोश के देखने से ही सम्पूर्णा जैन भागमों का बोध हो सकता है। इसकी श्लोक संख्या साढ़े चार लाख है और प्रकारादि वर्णानुक्रम से साठ हजार प्राकृत शब्दों का संग्रह है।"<sup>1</sup>

लेखक के ये शब्द स्पष्ट संकेत करते हैं कि उनका उद्देश्य इसे सही अर्थ में महाकोश बनाने का था। इस महाकोश के मुख्य पृष्ठ पर लिखा है—

श्री सर्वज्ञप्रथित गरुडपर निवृत्ताऽथ श्रीनोपोलम्यमानाऽशेष—सूनुद्वृत्ति—  
भाष्य—निवृत्ति शून्यादि निहित सकल दार्शनिक—सिद्धान्तेतिहास—शिल्प—  
वेदान्त—न्याय—वैशेषिक—मीमांसादि—प्रदक्षित पदार्थ युक्तायुक्तत्वनिर्णयिकः।  
इहद् भूमिको—रोद्घात—प्राकृतव्याकृति—प्राकृत शब्द रूपावल्पादिपरिष्कार-  
सहितः।



इसके पता चलता है कि कोशकार द्वारा इसमें प्राकृत-जीन भाषण, कृति, भाष्य, विभुक्ति, धूर्ति, आदि में उल्लिखित सिद्धान्त, इतिहास, कल्प, वेदान्त, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा आदि का संग्रह किया गया है। इसका प्रकाशन जैन प्रभाकर मिश्र ने प्रेस रत्नलाम से सात भागों में हुआ। इसकी भूमिका में लिखा है कि "इस कोश में मूलसूत्र प्राचीन टीका, व्याख्या तथा ग्रन्थान्तरों में उसका उल्लेख दर्शाया गया है। यदि किसी भी विषय पर कथा भी उपलब्ध है तो उसका भी उल्लेख है। तीर्थ और तीर्थकरों के बारे में भी लिखा गया है।" यह महाकोश यद्यपि सात भागों में समाप्त हुआ है परन्तु भूमिका में चार भागों की ही विषय सामग्री का उल्लेख है। इसे हम संक्षेप में इस प्रकार देख सकते हैं—

|                                   |           |                         |
|-----------------------------------|-----------|-------------------------|
| 1. प्रथम भाग—अ वर्ण               | पृष्ठ 894 | प्रकाशन काल<br>सन् 1918 |
| 2. द्वितीय भाग—आ से ऊ वर्ण तक     | „ 1178    | सन् 1913                |
| 3. तृतीय भाग—'ए' से 'क्ष' वर्ण तक | „ 1364    | सन् 1914                |
| 4. चतुर्थ भाग—'ज' से 'न' वर्ण तक  | „ 2778    | सन् 1917                |
| 5. पंचम भाग—'प' से 'भ' वर्ण तक    | „ 1636    | सन् 1921                |
| 6. षष्ठ भाग—'म' से 'व' वर्ण तक    | „ 1466    | सन् 1923                |
| 7. सप्तम भाग—स से ह वर्ण तक       | „ 1244    | सन् 1925                |

इन सातों भागों के प्रकाशन में लगभग पन्द्रह वर्ष लगे और कुल 10460 पृष्ठों में यह महाकोश समाप्त हुआ। इसमें अक्षर, अहिंसा, भाग्य, आधाकर्म, आयरिय, आलोचना, अयोग्यता, काल, क्रिया, केवलपण्णति, अक्षर, भारत, वैश्य, जोग तिरथंवर, पञ्चजा, रजोहरण, वत्स, वसहि, विहार, सावद, हंस, विनय, सङ्घट्टावलि, पञ्चकलाण, पड्डिहेहरण, परिसङ्घ, वंशण, भाषण, मरण मूलसूत्र, मोक्ष, लोग, वरु, वसहि, विराय, वीर, वेदान्त, सुखि तन्त्र, ज्ञानाद्य इत्यादि जैसे मुख्य शब्दों पर विशेष विचार किया है। इसी तरह अक्षर, अजयचन्द्रण, अणुवेवेवर, अभयदेव, अरिष्टनेमि, आराहण, इलावत, इसिमहपुत्र, उपयण काकविय, कासीराज, अकक्षेव, दयदेव, बससिरि, अणुवद, मूलवत, मूलसिरी, वैद्योत्तर, रणनेमि, रोहिणी, समुद्रपाल, विजयसेन, सीह, साकम्पी, हरिभद्र आदि जैसी महत्वपूर्ण शब्दों का विस्तार से उल्लेख किया गया है।

यह महाकोश अदृश्य है परन्तु महाकोश के प्रयोग का सिद्ध नहीं कर पाया। अतः तो इसे हम मोटे रूप में अर्धभागवी महाकोश कह सकते हैं जिसमें अर्धभागी

प्राकृत जैन ग्रन्थों को छोड़कर शेष प्राकृत साहित्य का उपयोग नहीं किया गया और कुदरी बात यह है कि यह मात्र उद्धरणकोश बन गया। ये उद्धरण इतने लम्बे रक्त विधे कि माऊक देखकर ही घबड़ा जाता है। कहीं-कहीं तो ग्रन्थों के समूचे भाग प्रस्तुत कर दिये हैं। फिर इसके बाद उनका संस्कृत रूपान्तर और भी क्रोडित बन गया। पाण्डित्यमहोदय के लेखक पं. हरयोविन्द दास सेठ ने इसकी जो सटीक आलोचना की है वह इस सन्दर्भ में दृष्टव्य है।

“परन्तु वेद के साथ कहना पड़ता है कि इसमें कर्ता की सफलता की अपेक्षा निष्कलता ही अधिक मिली है और प्रकाशक के धन का अपभ्रंश ही विशेष दुष्ठा है। सफलता न मिलने का कारण भी स्पष्ट है। इस ग्रंथ को थोड़े गौर से देखने पर यह सहज ही मालूम होता है कि इसके कर्ता को न तो प्राकृत भाषाओं का पर्याप्त ज्ञान था और न प्राकृत शब्दकोश के निर्माण की उतनी प्रबल इच्छा, जितनी जैन दर्शन शास्त्र और तर्क शास्त्र के विषय में अपने पांडित्य प्रख्यापन की धुन। इसी धुन ने अपने परिश्रम का योग दिमा में ले जाने वाली विवेक बुद्धि का भी ह्रास कर दिया है। यही कारण है कि इस कोश का निर्माण केवल 75 से भी कम प्राकृत जैन पुस्तकों के ही, जिनमें सर्वमान्य के दर्शन विषयक ग्रंथों की बहुलता है, आधार पर किया गया है और प्राकृत की ही इतर मुख्य शाखाओं के तथा विभिन्न विषयों के अनेक जैन तथा जैनेतर ग्रंथों में एक का भी उपयोग नहीं किया गया है। इससे यह कोश व्यापक न होकर प्राकृत भाषा का एकदेशीय कोश हो गया है। इसके सिवा प्राकृत तथा संस्कृत ग्रंथों के विस्तृत ग्रंथों को और कहीं-कहीं तो छोटे बड़े सम्पूर्ण ग्रंथ को ही अवतरण के रूप में उद्धृत करने के कारण<sup>1</sup> पृष्ठ संख्या में बहुत बधा होने पर भी, शब्द संख्या में ऊन ही नहीं, बल्कि आधारभूत ग्रंथों में आये हुए कई उपयुक्त शब्दों को छोड़ देने से और विशेषार्थहीन प्रतिदीर्घ सामासिक शब्दों की अर्थात् से वास्तविक शब्द संख्या में यह कोश प्रति न्यून भी है। इतना ही नहीं, इस कोश में आदर्श पुस्तकों की, असावधानी की, और प्रेस की तो असंख्य अशुद्धियाँ हैं ही, प्राकृत भाषा के अज्ञान से सम्बन्ध रखने वाली त्रुटियों की भी कमी नहीं है और सबसे बढ़कर दोष इस कोश में यह है कि वाचस्पत्य, अनेकास्त जय पताका, अष्टक, रत्नाकरावलििका आदि केवल संस्कृत के और जैन इतिहास जैसे केवल धार्मिक बुजुराती ग्रंथों के संस्कृत और बुजुराती शब्दों पर से कोरी निजी कल्पना से ही बनावे हुए प्राकृत शब्दों की इसमें खूब मिलावट की गयी है, जिससे इस कोश की

1. जैसे 'वेद्य' शब्द की व्याख्या में प्रतिमा-वतक नामक सटीक संस्कृत ग्रंथ को धारि से अंत तक उद्धृत किया गया है। इस ग्रंथ की श्लोक संख्या करीब पाँच हजार है।

प्रामाणिकता ही एकदम बरत ही गयी है। वे धीरे धीरे संक्षेप शैली के कारण साधारण शब्दावली के लिए इस कोश का उपयोग शिक्षण सामग्री और शब्दकोश, विद्वानों के लिए भी उत्तम ही रहेगा।<sup>1</sup>

अभिधान राजेन्द्र कोश के कोशकार विजय राजेन्द्र सूरि तथा संशोधक श्रीचन्द्रिय, धीरे बहीन्द्र विजय हैं। उनके अभिधान राजेन्द्र कोश के सम्बन्ध में कुछ की यह आलोचना निःसन्देह अर्बपूर्व प्रतीत होती है कोश के निर्माण की आवश्यकता यहाँ पूरी नहीं हो सकी। इसके बावजूद इस विशालकाय कोश की विस्तृत विवेक भी नहीं कह सकते। जिस समय इस कोश का निर्माण हुआ है उस समय अर्बनामकी भाषणों का प्रकाशन अधिक नहीं हुआ था और जो हुआ भी था वह सभी अनुपस्थित नहीं था। अनुसंधान को एक ही स्थान पर सम्बद्ध विषय की जानकारी मिल जाती है। इस दृष्टि से उसका विशेष उपयोग कहा जा सकता है।

विजय राजेन्द्रसूरि ने एक धीरे कोश लिखा था जिसका ताप उन्होंने सन्धा-बुधि कोश रखा था परन्तु इसका प्रकाशन नहीं हो सका। इसमें वेदाङ्ग ने अकाराधिक्य से प्राकृत शब्दों का संग्रह किया था और साथ ही संस्कृत और हिन्दी अनुवाद दिया था किन्तु अभिधान राजेन्द्र कोश की तरह शब्दों पर व्याख्या नहीं की गई।<sup>2</sup> यह कोश कदाचित् अधिक उपयोगी हो सकता था परन्तु न जाने प्रायः वह पांडुलिपि के रूप में कहाँ पड़ा होगा।

## 2. अर्बभागवीकोश

इस कोश के रचयिता मुनि रत्नचन्द्र सीधवा-सम्प्रदाय के स्थापकवादी साधु थे। उन्होंने जैन-जैनेतर ग्रंथों का अध्ययन कर बहुयुक्त व्युत्पत्ति प्राप्त किया था। उनके द्वारा कुछ धीरे भी ग्रंथों की रचना हुई है जिनमें अजरामरस्तोत्र (सं. 1969) भाववाचकतपत्रिका (सं. 1970), कर्तव्यकौमुदी (सं. 1970), भाववाचक (सं. 1972), रत्नचर्चासंसार (सं. 1973), प्राकृत पाठमाला (सं. 1980), प्रस्तर रत्नचर्चा (सं. 1981), जैनदर्शन सीमांसा (सं. 1983), देवतीद्वय श्यालोचना (सं. 1991), जैन सिद्धान्त कौमुदी (सं. 1994), अर्बभागवी का सटीक व्याकरण प्रमुख हैं।

यह अर्बभागवी कोश मूलतः गुजराती में लिखा गया धीरे उसका हिन्दी तथा अंग्रेजी रूपान्तर प्रीतममाल कच्छी प्रादि अन्य विद्वानों से कराया गया। इस क्षेत्र

1. पादसङ्ग्रहग्रन्थ, द्वितीय संस्करण, भूमिका, पृ. 13-14.
2. अभिधान राजेन्द्रकोश, भूमिका, पृ. 13-14.

के रखने में वेदवक को मुनि उत्तमचन्द्र जी, जयश्याम धारमाराम जी, मुनि साध-  
वजी तथा मुनि देवचन्द्रजी का भी सहयोग मिला। डॉ. अक्षरसींहार, एवं  
डॉ. वेदवेत्तकर ने भी इसमें सहयोग दिया। इन सभी विद्वानों के सहयोग के अभाव  
में इस रूप में प्रकाशित हो सका है। डॉ. बूसर की विस्तृत प्रस्तावना और  
अक्षरसंश्लेष भण्डारी की विस्तृत अंग्रेजी भूमिका के साथ यह कोश चार भागों में  
इस प्रकार प्रकाशित हुआ—

|       |                    |               |                      |
|-------|--------------------|---------------|----------------------|
| भाग 1 | 'अ' वर्ण           | पृ. 612       | प्रकाशन काल सन् 1923 |
| भाग 2 | 'अ' से 'ए' वर्ण तक | पृ. 1002      | „ .. सन् 1927        |
| भाग 3 | 'त' से 'ब' वर्ण तक | लगभग पृ. 1000 | „ „ सन् 1929         |
| भाग 4 | 'म' से ह वर्ण तक   | पृ. 1015      | „ „ सन् 1932         |

(परिशिष्ट सहित)

इस प्रकार लगभग 3600 पृष्ठों में यह कोश समाप्त हो जाता है। इसे हम  
पंच भाषा कोश कह सकते हैं क्योंकि यह प्राकृत के साथ ही संस्कृत, गुजराती हिन्दी  
और अंग्रेजी भाषाओं में रूपान्तरित हुआ है। लगभग सभी शब्दों के साथ यथावश्यक  
मूल उद्धारणों को भी इसमें सम्मिलित किया गया है। ये उद्धारण सक्षिप्त और  
उपयोगी हैं। उनमें अभिधान राजेन्द्र कोश जैसी बोधिलता नहीं दिखती। अभिधान  
राजेन्द्र कोश की अन्य कमियों को भी यहाँ परिमार्जित करने का प्रयत्न किया गया है।  
इस कोश में भागम साहित्य तथा भागम से निकटतः सम्बन्ध रखने वाले विशेषा-  
वश्यक भाष्य पिंड, नियुक्ति, बोधनियुक्ति आदि प्रयोगों का उपयोग किया गया है।  
साथ ही शब्द के साथ उसका व्याकरण भी प्रस्तुत किया गया है। अर्धभागधी से  
प्रतिरिक्त प्राकृत बोलियों के शब्दों को भी इसमें कुछ स्थान दिया गया है। इसके  
चारों भागों में कुछ परम्परागत चित्र भी सयोजित कर दिये गये हैं जिनमें अक्षर-  
कार्बण विमान, आसन्, ऊर्ध्वलोक, उपशमश्रेणी, कनकाबली, कृष्णराजी, कालकक,  
अपकश्रेणी, धनरज्जु, धनोदधि, 14 रत्न, चन्द्रमण्डल, जम्बूद्वीप, नक्षत्रमण्डल, भरत,  
मैरु, लवणसमुद्र लोम, विमाण आदि प्रमुख हैं। इस कोश का सम्पूर्ण नाम An  
Illustrated Ardha-Magadhi Dictionary है और इसका प्रकाशन S. S.  
Jaina Conference इन्दौर द्वारा हुआ है।

इस कोश के परिशिष्ट के रूप में सन् 1938 में पंचम भाग भी प्रकाशित  
हुआ। इसमें अर्धभागधी, देशी तथा महाराष्ट्री शब्दों का संस्कृत, गुजराती हिन्दी  
और अंग्रेजी भाषाओं के अनुवाद के साथ संग्रह हुआ है। परन्तु उनका यहाँ व्या-  
करण नहीं दिया जा सका। यह भाग भी लगभग 900 पृष्ठों का है।

मुनि रत्नचन्द्र जी का यह सम्पूर्ण कोश अक्षरों और शोधकों के लिए उद्धारण  
ग्रंथ-सा बन गया है। मुनिजी का जन्म सं. 1936 वैशाख शुक्ल 12 गुरुवार को

कच्छ के बाराणसी नामक ग्राम में हुआ। धारणा विवाह 13 वर्ष की अवस्था में हुआ था। 1953 में पत्नी की मृत्यु के बाद उन्होंने भूमि खोला ले ली। इसके बाद वे संस्कृत और प्राकृत ग्रंथों का गहन अध्ययन किया और बीबन के उत्तरकाल के प्राचीन साहित्य का कार्य हाथ में लिया। वे शतावधायी भी वे और उपस्थी भी।

### 3. पाइयसह महण्णव

इस कोश के लेखक पं. हरगोविन्ददास विक्रमचन्द्र सेठ का जन्म वि. सं. 1945 में राधनपुर (गुजरात) में हुआ। उनकी शिक्षा-दीक्षा बहुत कुछ मसोविजय जैन पाठशाला, बाराणसी में हुई। यहीं रहकर उन्होंने संस्कृत, और प्राकृत, भाषा का अध्ययन किया। प. नेचरदास बोसी उनके सहाय्यायी रहे हैं। दोनों विद्वान् पालि का अध्ययन करने श्रीलंका भी गये और बाद में वे संस्कृत, प्राकृत और कुवराटी के प्राध्यापक के रूप में कलकत्ता विश्वविद्यालय में नियुक्त हुए। व्यास-व्याकरण-सिद्ध होने के कारण जैन-जैनतर दार्शनिक ग्रंथों का गहन अध्ययन हो चुका था। मसो-विजय जैन ग्रंथमाला से उन्होंने अनेक संस्कृत-प्राकृत ग्रंथों का संपादन भी किया। लगभग 52 वर्ष की अवस्था में ही सं. 1997 में वे कालकवलित हो गये। अपने इस अल्पकाल में ही उन्होंने अनेक ग्रंथों का कुशल सम्पादन और लेखन किया।

सेठजी के ग्रंथों में पाइयसह महण्णव का एक विशिष्ट स्थान है। उसकी रचना उन्होंने सम्भवतः अभिान राजेन्द्रकोश की कमियों को दूर करने के लिए की। जैसा हम पीछे लिख चुके हैं, सेठजी ने उपर्युक्त ग्रंथ की आत्मिक समीक्षा की और उसकी कमियों को दूर कर नये प्राकृत कोश की रचना का संकल्प किया उन्होंने स्वयं लिखा है—“इस तरह प्राकृत के विविध भेदों और विषयों के जैन तथा जैनतर साहित्य के मशेष्ट शब्दों से सकलित, आश्रयक अक्षरतरणों से युक्त, सुद्ध एवं प्रायाणिक कोश का नितान्त अभाव बना रहा है। इस अभाव की पूर्ति के लिए मैंने अपने उक्त विचार को कार्य रूप में परिणत करने का बुद्ध संकल्प किया और तदनुसार शीघ्र ही प्रयत्न भी शुरू कर दिया गया। जिसका फल प्रस्तुत कोश के रूप में चौदह वर्षों के कठोर परिश्रम के परमात् आज पाठकों के सामने उपस्थित है।”<sup>1</sup>

लेखक के इस कथन से यह स्पष्ट है कि कोश के तैयार करने में उन्होंने पर्याप्त समय और शक्ति लमायी। प्रकाशित संस्करणों को सुद्ध रूप में अंकित करने का एक दुष्कर कार्य था, जिसे उन्होंने पूरा किया। इतना ही नहीं, बल्कि उन्होंने इस बहुलकाय कोश का सारा प्रकाशन-अर्थ भी स्वयं उठाया। कीर्तिकार ने आधुनिक

1. - पाइयसहमहण्णव, भूमिका, द्वितीय संस्करण, पृ. 14.

ग्रंथ से सम्बन्ध 50 पृष्ठ की विस्तृत प्रस्तावना भी लिखी, जिसमें प्राकृत भाषाओं का इतिहास तथा भारतीय भारतीय भाषाओं के विकास में उनके योगदान की विशेष चर्चा की। इस ग्रन्थ के निर्माण में उन्होंने लगभग 300 ग्रंथों का अध्ययन किया जो प्रायः दशमन्दिर सम्प्रदाय से सम्बद्ध हैं। सत्यमेव जयते की किसी ग्रंथ का प्रभाव भी दिया गया है। इस दृष्टि से यह कोश अधिक उपयोगी है। एक शब्द के चिह्नों सम्भावित अर्थ हो सकते हैं उनका भी कोशकार ने उल्लेख किया है। संदिग्ध पदों को कोष्ठक में अक्षरचिह्न के साथ प्रस्तुत किया गया है। यह व्यवस्था उनकी विद्वत्ता और सावधानता को सूचित करती है।

### पुरातन जैन वाक्य सूची

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक श्री जुगलकिशोर मुस्तार प्राचीन जैन विद्या के प्रसिद्ध अनुसन्धाता रहे हैं। उन्होंने बीर सेवा मन्दिर जैसे शोध-संस्थान और उसके अनेकान्त जैसे शोध पत्र की स्थापना और उसका सम्यक् संचालन कर जैन विद्या के अनुसन्धान क्षेत्र में सहस्रपुराण योग दिया है। श्री मुस्तार स्वयं भी एक विशिष्ट सञ्चालक रहे हैं। उन्होंने अपनी प्रवस्था के लगभग 50 वर्ष इसी कार्य में व्यतीत किये हैं। उनके ग्रंथों में स्वयंभूस्तोत्र, स्तुति-विद्या, युक्त्यनुशासन, समीचीन धर्मशास्त्र, धर्मशास्त्ररहस्य, जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, देवायम स्तोत्र आदि सम्पादित और अनुवादित ग्रंथ तथा शताधिक शोध-निबंध शोधकों के लिए मार्गदर्शक बने हुए हैं।

पुरातन-जैन वाक्य सूची वस्तुतः एक ढंग का कोश ग्रन्थ है, जिसमें 64 मूल ग्रंथों के आद्य-वाक्य की प्रकाशदिक्रम से सूची है। इसी में 48 टीकादि ग्रंथों में उद्धृत प्राकृत-पद्य भी संगृहीत कर दिये गये हैं। कुल मिलाकर पच्चीस हजार तीन सौ वाक्य प्राकृत-पद्यों की अनुक्रमणिका के रूप इस ग्रन्थ को तैयार किया गया है। इसके आचारभूत ग्रंथ विशेषतः दिगम्बर सम्प्रदाय के हैं। जहाँ-तहाँ आचार्य 'उक्तं च' लिखकर अपने पूर्वाचार्यों के पद्यों का उल्लेख करते रहे हैं जिनका खोजना कभी-कभी कठिन हो जाता है। इस दृष्टि से यह ग्रंथ शोधकों के लिए अत्यधिक उपयोगी बन जाता है। इसके सम्पादन में डॉ. दरबारीलाल कोटिया और पं. परमानन्द शास्त्री ने विशेष सहयोग दिया है। इसका प्रकाशन बीरसेवा मन्दिर से सन् 1950 में हुआ। इस ग्रंथ की प्रस्तावना 168 पृष्ठ की है, जिसमें मुस्तार सा. ने सम्बद्ध ग्रंथों और आचार्यों के समय और उनके योगदान पर गम्भीर चिंतन प्रस्तुत किया है।

### जैनग्रन्थ प्रवृत्ति संग्रह

इसका दो भागों में बीर सेवा मन्दिर से प्रकाशन हुआ है। प्रथम भाग का सम्पादन पं. परमानन्दजी के सहयोग से श्री जुगलकिशोर मुस्तार ने सन् 1954

में किया। इसमें संस्कृत-प्राकृत भाषाओं के 171 ग्रंथों की प्रकृतियों का संकलन किया गया है, जो ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्वपूर्ण है। इन प्रकृतियों में संघ, गण, मण्ड, राजा, कुम्हारमण्ड, स्वाम, उग्रम धारि का संकेत मिलता है। इस भाग में कुछ परिशिष्ट भी दिये गये हैं जिनमें प्रकृतियुक्त भौगोलिक नामों, नगरों, नहरों, मण्डों, स्वामी, राजाओं, राजमण्डियों, विद्याओं, छात्राओं, कुम्हारों तथा व्यापक-कारिणियों के नाम की सूची की प्रकाशविषय से दिया गया है। पं. परमानन्दजी द्वारा लिखित 113 पृष्ठों की प्रस्तावना विशेष महत्वपूर्ण है।

संस्कृत-प्रकृत-संग्रह के दूसरे भाग के सम्पादक हैं पं. परमानन्द झास्त्री जी जैनसोच क्षेत्र में इतिहास और साहित्य के सर्वमान्य विद्वान् हैं। आपने श्रीरसेवा मन्दिर के अनेकान्त पथ का लगभग प्रारम्भ ही सम्पादन का भार उठाना और अज्ञान-शोध निबन्धों को स्वयं लिखकर प्रकाशित किया। विद्वज्जगत की परमानन्द जी की सूक्ष्मेक्षिका से असीमांति परचित है। उन्होंने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा हिन्दी के अनेक भाषाओं का काल-निर्धारण किया एवं उनके कृतित्व व व्यक्तित्व पर असाधारण रूप से शोध-सोजकर प्रथमतः प्रकाश हुआ। उनका एक गभीरतम ग्रंथ जैनधर्म का प्राचीन इतिहास आपने बृहदाकार में देहली से प्रकाशित हुआ है, जो उनकी विद्वत्ता का परिचायक है। यह उनका अंतिम ग्रंथ है।

इस द्वितीय भाग में विशेष रूप से अपभ्रंश ग्रंथों की 122 प्रकृतियों की गयी हैं, जो साहित्य और इतिहास के साथ ही सामाजिक और धार्मिक रीति रिवाज पर भी अग्रे प्रकाश डालती हैं। इन प्रकृतियों को हस्तलिखित ग्रंथों पर से उद्धृत किया गया है व अधिकतर अप्रकाशित ग्रंथों को ही सम्मिलित किया गया है। इसमें कुछ उपयोगी परिशिष्ट भी दिये गये हैं जिनमें भौगोलिक नाम, नगर, भाग, संघ, गण, मण्ड, राजा आदि को प्रकाशविषय से रखा है। लगभग 150 पृष्ठ की सम्पादन की प्रस्तावना शोध की दृष्टि से और भी अधिक महत्वपूर्ण है। इसका प्रकाशन श्रीरसेवा मन्दिर, देहली से सन् 1963 में हुआ। एक अन्य प्रकृतित संग्रह श्री के० भुवनेश्वरी लक्ष्मी के सम्पादन में जैन सिद्धान्त भवन द्वारा से वि. सं. 1909 में प्रकाशित हुआ था। इसमें शास्त्री जी ने 9 ग्रंथकारों की प्रकृतियों की हैं और साथ ही हिन्दी में उनका संक्षिप्त सारांश भी दिया है।

## 6. शेषवा कोश

इसके सम्पादक श्री मोहनलाल बाँडिया और श्रीचन्द्र श्रीरक्षिया हैं और इसके प्रकाशन-कार्य का कुशतर भार श्री श्री बाँडिया ने उठाया है, जो कसकता से सन् 1966 में प्रकाशित हुआ। ये दोनों विद्वान् जैनदर्शन और साहित्य के संशोधक रहे हैं। सम्पादकों से सम्पूर्ण जैन ज्ञान-समय को सारमौलिक उल्लेखन वर्गीकरण पद्धति का अनुसरण कर 100 ग्रंथों में विभक्त किया और आवश्यकता के अनुसार उनके

परिवर्तित भी किया। मूल विषयों में से अनेक विषयों के उपविषयों की भी सूची इसमें सम्मिलित है। इसके सम्पादन में तीन बातों का आधा र लिया गया है—(1) पाठों का मिलान, (2) विषय के उपविषयों का वर्गीकरण तथा, (3) विषय-कोश। मूल पाठ को स्पष्ट करने के लिए सम्पादकों ने टीकाकारों का भी आधा र लिया है। इस संकलन का काम आसम ग्रंथों तक ही सीमित रखा गया है। फिर भी सम्पादन, वर्गीकरण तथा अनुवाद के कार्य में नियुक्ति, पूर्ण। इति, आदि टीकाग्रंथों का तथा सिद्धान्त ग्रंथों का भी यथास्थान उपयोग हुआ है। दिग्म्बर ग्रंथों का इसमें उल्लेख नहीं किया जा सका। सम्पादक ने दिग्म्बर लेख्या कोश को प्रयत्न रूप से प्रकाशित करने का सुझाव दिया है। कोश-निर्माण में 43 ग्रंथों का उपयोग किया गया है।

### 7. क्रिया कोश

इसके भी सम्पादक श्री मोहनलाल बाँठिया और श्री श्रीचन्द चोरडिया हैं और प्रकाशन किया है जैनदर्शन समिति कलकत्ता ने सन् 1996 में। श्री बाँठिया जैनदर्शन के सूक्ष्म विद्वान् हैं। उन्होंने जैन विषय-कोश की एक लम्बी परिकल्पना बनाई थी और उसी के अन्तर्गत यह द्वितीय कोश क्रिया-कोश के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस कोश का भी संकलन दशमलब वर्गीकरण के आधार पर किया गया है और उनके उपविषयों की एक लम्बी सूची है। क्रिया के साथ ही कर्म विषयक सूचनाओं को भी इसमें अंकित किया गया है। लेख्या-कोश के समान ही इस कोश के सम्पादन में भी पूर्वोक्त तीन बातों का आधा र लिया गया है इसमें लगभग 45 ग्रंथों का उपयोग किया गया है, जो प्रायः श्वेताम्बर आगम ग्रंथ हैं। कुछ दिग्म्बर आगमों का भी उपयोग हो सका है।

सम्पादक ने उक्त दोनों कोशों के अतिरिक्त पुद्गल-कोश, दिग्म्बर लेख्या कोश और परिभाषा कोश का भी संकलन किया था परन्तु अभी तक इनका प्रकाशन नहीं हो सका है। इस प्रकार के कोश जैनदर्शन को समुचित रूप से समझने के लिए निःसंदेह उपयोगी होते हैं।

### 8. जैन जैन विषयानरी

Gaina Gem Dictionary का सम्पादन जैनदर्शन के मान्य विद्वान् जे० एल० जीनी ने सन् 1910 में किया था, जो आरा से प्रकाशित हुआ। श्री जीनी ने Heart of Jainism जैसे अनेक ग्रंथों को स्वतन्त्र रूप से तैयार किया और तत्त्वार्थ सूत्र जैसे मान्य ग्रंथों का अंग्रेजी अनुवाद प्रस्तुत किया। जैनधर्म को अंग्रेजी के माध्यम से प्रस्तुत करने में जी० आर० जैन और जे० एल० जीनी का नाम अविस्मरणीय रहेगा।



की जैनी का कोश जैन-पारिभाषिक शब्दों को समझने के लिए एक प्रस्थान-ग्रन्थ कहा जा सकता है। बुधिका ने उम्होंने स्वयं लिखा है—“बहू, भूको, अनुभव, बुध, कि एक ही जैन शब्द के विभिन्न अनुवादों में विभिन्न अर्थ भी पर्याप्त प्रयुक्त हो सकते हैं। इससे एकत्रयता समाप्त हो जाती है और गन्थों के जैनेतर पाठकों के मन में बुधिषार का कारण बन जाता है। इसलिए सबसे प्रथमा उपाय सोचा गया कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण जैन पारिभाषिक शब्दों को साथ रखा जाय और जैतवर्षान के आलोक में सही अर्थ प्रस्तुति का प्रयत्न किया जाय। निश्चित ही इस तरह के कार्य को अंतिम कहना उचित न होगा। यह उक्तम प्रयास है कि जैन पारिभाषिक शब्दों की बर्ण-क्रमानुसार नियोजित किया जाय और उनका अनुवाद जंगली में दिया जाय।”

इस कोश का आधार पं. गोपालदास शर्मा द्वारा रचित जैन सिद्धान्त प्रवेशिका जैसा लघु कोश प्रतीत होता है। एक अन्य शब्द-कोश श्री बी. जैत और श्री सीतलप्रसाद जैन ने ‘बृहज्जैन-शब्दार्थान्वय’ नाम से सन् 1924 और 1934 में दो भागों में बायस्क्री से प्रकाशित किया था। इसी प्रकार का भानन्द सामरसूरि द्वारा लिखित ‘अल्प-परिचित-संज्ञान्तिक शब्दकोश’ भाग 1, सूरत से सन् 1954 में प्रकाशित हुआ था जिसमें जैन सैद्धांतिक शब्दों को संक्षेप में समझाया गया है।

## 9. जैनेन्द्र-विश्वकोश

इसके रचयिता भुल्लक जैनेन्द्र वर्गी हैं, जिन्होंने लगभग 20 वर्ष के सतत अध्ययन के फलस्वरूप इसे तैयार किया है। इसमें उन्होंने जैन तत्त्वज्ञान, धार्मिक-अर्थसिद्धान्त, भूगोल, ऐतिहासिक तथा पौराणिक व्यक्ति, राजे तथा राजवंश, धर्मग्रन्थ, शास्त्र व शास्त्रकार, धार्मिक तथा दार्शनिक सम्प्रदाय आदि से सम्बन्धित लगभग 600 शब्दों तथा 2100 विषयों का सांगोपांग विवेचन किया है। सम्पूर्ण सामग्री संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश में लिखित प्राचीन जैन साहित्य के 100 से अधिक महत्त्वपूर्ण एवं प्रायाणिक गन्थों से मूल शब्दों, उद्धरणों तथा हिन्दी अनुवाद के साथ संकलित की गयी है। इसमें अनेक महत्त्वपूर्ण सारणियाँ और रेखाचित्र भी जोड़े गये हैं, जिससे विषय अधिक स्पष्ट होता गया है। हर विषय की मूल शब्द के अन्तर्गत ऐतिहासिक दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। साथ ही यह ध्यान रखा गया है कि शब्द और विषय की प्रकृति के अनुसार उसके अर्थ, व्युत्पत्ति, भेद-प्रभेद, विषय-विस्तार, शंका-समाधान व समन्वय आदि में जो-जो और जितना-जितना अपेक्षित हो वह सब दिया जाय। प्रस्तुत कोश को भारतीय ज्ञानपीठ से चार भागों में 8 और 10 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है। मुख्य ही दृष्टि से भी इसमें अन्य कोशों की अपेक्षा वैशिष्ट्य है। टाइप की निष्ठा से विषय

की निष्ठा को पहिचाना जा सकता है। मूल उद्धरणों को दे देने से इस ग्रन्थ की उपयोगिता और अधिक बढ़ गयी है। वस्तुतः यह सही अर्थ में सन्दर्भ ग्रन्थ बन गया है। इसमें अधिकशततः दिसम्बर ग्रन्थों का उपयोग किया गया है। इसके बारे में भाग इस प्रकार है—

|       |                       |           |             |          |
|-------|-----------------------|-----------|-------------|----------|
| भाग 1 | 'घ' से 'घौ' बर्याँ तक | पृष्ठ 504 | प्रकाशन कास | सन् 1970 |
| भाग 2 | 'क' से 'न' बर्याँ तक  | „ 634     | „ „         | 1971     |
| भाग 3 | 'प' से 'ब' बर्याँ तक  | „ 638     | „ „         | 1972     |
| भाग 4 | 'स' से 'ह' बर्याँ तक  | „ 544     | „ „         | 1973     |

इतने छोटे टाइप में मुद्रित 2320 पृष्ठ का यह महाकोश निस्संदेह बर्याँ जी

की सतत साधना का प्रतीक है। उनका जन्म 1921 में पानीपत में हुआ। आपके पिता जयभगवान एडवोकेट जाने-माने विचारक और विद्वान् थे। आपकी जिजीविषा ने ही सन् 1938 में आपको क्षयरोग से बचाया तथा इसी कारण एक ही फेंकड़े से पिछले वर्ष तक अपनी साधना में लगे रहे। एम० इ० एस्० जैती उच्च उपाधि प्राप्त करने के बावजूद प्रकृति पथ में उनका मन नहीं रम सका और फलतः 1957 में घर से संन्यास ले लिया और 1963 में क्षुल्लक दीक्षा ग्रहण की। प्रकृति से अघ्नवसायी, मृदु और निस्पृही बर्याँजी के कुछ ग्रन्थ महत्वपूर्ण ग्रंथ भी प्रकाशित हुए हैं जिनमें क्षातिपथ-प्रदर्शक, नये दर्पण, जैन-सिद्धान्त शिक्षण, कर्म-सिद्धान्त, श्रद्धा-बिन्दु, द्रव्य-विज्ञान, कुन्वकुन्द-दर्शन आदि नाम उल्लेखनीय हैं।

### 10. लक्षणवावली

प्रस्तुत ग्रंथ के सम्पादक पं० बालचन्द्र जी सिद्धान्त शास्त्री हैं, जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के बावजूद इस ग्रन्थ का सम्पादन किया। उनका जन्म सं० 1962 में सोरह (भांसी) में हुआ और शिक्षा का बहुतर भाग स्नातक विद्यालय वाराणसी में पूरा हुआ। सन् 1940 से लगातार साहित्यिक कार्य में जुटे हुए हैं, डॉ० हीरालाल जी के साथ उन्होंने षट्सण्णायम (षवला) के छह से सोलह भाग तक का सम्पादन और अनुवाद किया। इसके अतिरिक्त जीवराज जैनग्रंथमाला से आत्मानुशासन, पुण्याश्रम कथाकोश, तिलोपपस्थासि और पञ्चनन्दिपथविश्वतिका ग्रंथ हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुए। लक्षणवावली के अतिरिक्त वीर सेवा मन्दिर से ध्यानशतक भी विस्तृत प्रस्तावना के साथ प्रकाशित हुआ है। आप मौन साधक और कर्मठ अध्येता हैं।

लक्षणवावली एक जैन पारिभाषिक शब्दकोश है। इसमें लगभग 400 दिसम्बर और श्वेताम्बर ग्रन्थों से ऐसे शब्दों का संकलन किया गया है, जिसकी कुछ

यें कुछ परिवर्तन आवश्यक होती है। सभी सम्प्रदायों में प्रायः ऐसे परिवर्तनिक ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं। उनका ठीक-ठीक अभिप्राय समझने के लिए उक्त-उक्त ग्रंथों का आशय सेना पड़ता है। जीमवर्षान के संदर्भ में इस प्रकार के पारिवर्तनिक सम्प्रदाय की आवश्यकता भी जो एक ही स्थान पर विकास-क्रम की दृष्टि के पारिवर्तनिक परिवर्तनियों को प्रस्तुत कर सके। इस कमी की पूर्ति लक्ष्मणवर्षी से प्रदीपति हो गई। इसमें परिवर्तनियों के साथ ही संश्लेष हिन्दी अनुवाद भी कुछ विषय मोटे टाइप में दिया गया है अनुवादित ग्रंथ भाग का क्रम भी साथ में संक्षिप्त किया गया है। अनेक वर्षों के परिश्रम के बाद इस ग्रन्थ का मुद्रण हो पाया है। लगभग 100 पृष्ठों की शास्त्री जी द्वारा लिखित प्रस्तावना ने इसे और भी अधिक सार्थक बना दिया। श्री जुलकिशोर मुस्तार और बाबू झोटेलाल जी स्मृतिपूर्वक इस का प्रकाशन हुआ है। इसके दो भाग क्रमशः 1972 और 1975 ई० में प्रकाशित हुए हैं जिनमें लगभग 750 पृष्ठ मुद्रित हैं। तृतीय भाग का भी मुद्रण हो चुका है।

#### 11. ए डिक्शनरी ऑफ प्रायर नेम्स

A Dictionary of Prakrit Proper names का संकलन और सम्पादन डॉ. मोहनलाल मेहता और डॉ. के. पार. चन्द्र ने संयुक्त रूप से किया है और एल. जी. हन्टीद्यूट प्रहमदाबाद ने उसे सन् 1972 में दो भागों में प्रकाशित किया है। डॉ. मेहता और डॉ. चन्द्र प्राकृत और गैर गैर के लिए अज्ञात नहीं। दोनों विद्वानों के अनेक लेखग्रंथ और निबन्ध प्रकाशित हो चुके हैं। डॉ. मेहता के द्वारा लिखित ग्रंथों में प्रमुख हैं—Jaina Psychology, Jaina Culture, Jaina Philosophy गैर भाषा, गैर साहित्य का इतिहास, गैर दर्शन आदि। डॉ. चन्द्र ने विमलसूरि के पञ्चमखरिब का अंग्रेजी में अनुवाद प्रस्तुत किया है जो प्रकाशित हो चुका है। इन दोनों विद्वानों ने उपर्युक्त कार्य की रचना डॉ. मलाल बेखर के 'A' Dictionary of Pali-Proper names के नामों के संदर्भ में यह कोश प्रदीपति प्रस्तुत करता है।

#### 12. Jaina Bibliography : (Universal Encyclopaedia of Jaina Referencos)

सन् 25 वर्ष पहले बाबू झोटेलालजी ने एक Jaina Bibliography प्रकाशित की थी जो अत्यन्त उपलब्ध नहीं है। और देवा मन्दिर दिल्ली की ओर से डॉ. ए. एन. उपाध्ये के सम्पादन में एक और Jaina Bibliography एक वर्षी निबन्ध के बाद प्रकाशित हो चुकी है। इसे भी बाबू झोटेलाल जी ने संकलित किया

था। इसमें 1062 तक के शोध कार्यों को सम्मिलित किया गया है। लगभग 2000 पृष्ठों के दस ग्रन्थ की शब्द सूची बनाने का दुष्कर कार्य सामाजिक सेवा की दृष्टि से डॉ. अय्यन्न्द भास्कर, प्रोफेसर एवं निदेशक जैन अनुशीलन केन्द्र, जयपुर विश्वविद्यालय ने हाथ में लिया था जो 250 पृष्ठ में पूरा भी हो गया था। परन्तु संस्था के आन्तरिक विवाद ने डॉ. जैन के किये हुए कार्य को मटियामेट कर दिया और आज वह बिना शब्द सूची के ही विक्रयार्थ उपलब्ध हुआ है। डॉ. जैन की अमूल्य सेवा की यह दुर्गति संस्थान की वर्तमान स्थिति को स्पष्ट रूप से सामने रखने के लिए पर्याप्त है।

प्रस्तुत Bibliography में देश विदेश में प्रकाशित ग्रन्थों और पत्रिकाओं से ऐसे सन्दर्भों को विषयानुसार एकत्रित किया गया है जिनमें जैनधर्म और संस्कृति से सम्बद्ध किसी भी प्रकार की सामग्री प्रकाशित हुई है जो निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत संकलित की गई है। Encyclopaedias, Dictionaries, Bibliographies, gazetteers, Census Reports and guides, Historical and archaeological accounts, Archaeology (including Museum), Archaeological Survey, History, Geography, Biography Religion, Philosophy and Logic, Sociology, Ethnology, Educational statistics, Languages, Literature, general works. इन समस्त शीर्षकों को आठ विभागों में विभाजित किया गया है। इस बृहदाकार ग्रन्थ में देशी-विदेशी विद्वानों द्वारा लिखित लगभग 3000 पुस्तकों और निबन्धों आदि का उपयोग किया गया है फिर भी कुछ आवश्यक सामग्री संकलित होने से रह गयी है। इसके बावजूद यह ग्रन्थ निर्विवाद रूप से प्राचीन भारतीय संस्कृति, विशेषतः जैन संस्कृति के संशोधन के लिए अत्यन्त उपयोगी सन्दर्भ ग्रन्थ कहा जा सकता है।

## 12. ग्रन्थ कोश

उपर्युक्त कोशों के अतिरिक्त कुछ और भी छोटे छोटे कोश जैन विद्वानों ने तैयार किये हैं। उनमें निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं— श्री बलभी छगनलाल का 'जैन कको' प्रहसदाबाद से सन् 1812 में प्रकाशित हुआ था, जिसमें प्राकृत शब्दों का गुजराती में अनुवाद दिया गया था। इसी तरह एच० आर० कापडिया का English-Prakrit Dictionary के नाम से एक कोश सूरत से सन् 1941 में प्रकाशित हुआ था। यहाँ हम डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर द्वारा संकलित और सम्पादित 'विद्विन्नोधिनी' का भी उल्लेख कर सकते हैं, जिसमें अंग्रेज़ी संस्कृत पाणि, प्राकृत हिन्दी और गुजराती साहित्य में उपलब्ध प्रेहलिकाओं का संग्रह किया है। इसका प्रकाशक धर्मोल जैन ज्ञानालय, पूर्णिया की ओर से सन् 1968 में हुआ था। इसमें संस्कृत, प्राकृत साहित्य में उपलब्ध कुछ और भी प्रेहलिकाओं

का संग्रह कर भाकार को कुछ और भी बढ़ कर दिया ~~काल~~ ~~की~~ ~~कदाचित्~~ वह ग्रंथ अधिक उपयोगी हो पाता ।

इनके प्रतिरिक्त डॉ. मोहनलाल मेहता और के. प्रार. चन्द्रा के सम्पादन में अमराण मासिक पत्रिका, बाराणसी के जनवरी 1976 के अंक से जैनागम पदानुक्रम कोश का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ था जो काफी यश तक हो चुका है । इसी तरह युवाचार्य महाप्रज्ञ श्री मुनि नथमल जी के निर्देशन में जैन विश्व भारती लाहौर से आगम शब्द कोश का प्रथम भाग भी प्रकाशित हुआ है । यह बहुत सारी सूचनाओं से अपूर है । श्री श्री चन्द चोरड़िया का 'वर्धमान कोश' भी उल्लेखनीय है जिसमें उन्होंने वर्धमान महावीर के जीवन से सम्बद्ध उद्धरण एकत्रित किये हैं । तुलसीप्रज्ञा में भी डॉ. नथमल टांडिमा ने जैन पारिभाषिक शब्द कोश का प्रकाशन प्रारम्भ किया है ।

इस प्रकार प्राधुनिक युग में अनेक जैन विद्वानों ने विविध प्रकार के कोश ग्रन्थों को तैयार किया, जो अध्येताओं के लिए अनेक प्रकार से उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं । यहां हमने कतिपय कोशग्रंथों का ही उल्लेख किया है । इनके प्रतिरिक्त कुछ और भी छोटे-मोटे अनेक कोश ग्रन्थों की रचना जैन विद्वानों ने की होगी पर उनकी जानकारी हमे नहीं हो सकी । यहां विशेष रूप से ऐसे कोश ग्रन्थों का उल्लेख किया गया है जिनका सम्बन्ध प्राकृत और जैन साहित्य से रहा है । संस्कृत, हिन्दी, गुजराती, अंग्रेजी आदि भाषाओं के जैन विद्वानों द्वारा लिखित कोश इस सीमा से बाहर रहे हैं । जैनग्रंथ सूचियों को भी हमने जानबूझकर छोड़ दिया है क्योंकि प्राधुनिक दृष्टि से वे कोशों की परिधि में नहीं आतीं । हाँ, यदि हम कोश का संकीर्ण अर्थ न लेकर उसका प्रयोग विस्तृत अर्थ में करें तो निस्संदेह कोशकार एवं कोशग्रन्थों की एक लम्बी सूची तैयार हो सकती है ।

## परिवर्त 3

### जैन दार्शनिक चेतना

#### 1. स्वाहाद और अनेकान्तवाद

स्वाहाद और अनेकान्तवाद निर्दोष कथन और चिन्तन का एक प्रशस्त मार्ग है। यह अपने दुराग्रह से मुक्ति और हमारे के विचारों की सादर स्वीकृति है। सूत्रकृतान्त जैसे प्राचीन ग्रंथ-साहित्य में इसका विवेचन मिलना इस बात का द्योतक है कि स्वाहाद का चिन्तन जैनदर्शन में लगभग महावीरकालीन है। बौद्धधर्म का पालि-साहित्य भी इस बात का समर्थन करता है।

सूत्रकृतान्त ने भिक्षु के लिए विभज्जवादमयी भाषा का प्रयोग निदिष्ट है। विभज्जवाद का तात्पर्य है, सम्यक् अर्थों को विभक्त करने के बाद उसे व्यक्त करना। भाषा-समिति के सन्दर्भ में भिक्षु के लिए उपदिष्ट यह निर्देशन अत्यन्त महत्वपूर्ण है—

संकेज्ज याऽसंकितभाषं शिक्खुं, विभज्जवायं च विद्यापरेज्जा ।

भासाधुयं भम्मसमुद्धितेहिं, विद्यापरेज्जा समया सुपन्ने ॥

.....विभज्जवाद—पृथगर्थनिरूपणवादं व्यापृत्सीयात् वदिवा विभज्ज-

वादः—स्वाहादस्तं सर्वत्रास्कलितं लोकव्यवहाराविसंवापितयासर्वव्यापिनं स्वाधुभवसिद्धं बवेद्, अथवा सम्मगर्थान् विभज्ज्य पृथक्कृत्वा तद्वाद बवेद्, तथावा—मित्यवादं शब्दार्थतया पर्यायार्थतया त्वमित्यवाद बवेद्, तथा स्वद्रव्य क्षेत्रकालाचार्यः सर्वेऽपि पदार्थाः सन्ति, परद्रव्यादिभिस्तु न सन्ति, तथा चोक्तम्—“सदैव सर्वं ज्ञेयं क्षेत्रकालाचार्यव्यतिरिक्तमुच्यते ? असदेव विपर्ययसमयेन व्यवतिष्ठते ।”

अथवा न बुद्ध भी अपने भाष को विभज्जवादी मानते रहे हैं, अनेकान्तवादी नहीं। वहाँ महावीर के विभज्जवाद और बुद्ध के विभज्जवाद में कुछ अंतर है। अब सभी अर्थों अथवा वृत्ति कोशों को स्वार्थिकत्व से अलग स्वीकार करता है अर्थात् बुद्ध का विभज्जवाद अस्मिन् स्पष्टीकरण किये बिना उसे नहीं मानना। अनेकान्तवाद ही और सूत्रा सीमित।

साहित्य में श्री निखटनतपुत्र के स्वप्न-विचारों का संकेत मिलता है। बुद्ध के प्रशनों का पारमर्नाथ के अनुयायी शम्भक द्वारा उत्तर दिये जाने पर बुद्ध ने उसमें स्वात्मविरोध का सूचक दिया। इसी प्रकार त्रिसवहृषति द्वारा प्रस्तुत उत्तर में श्री "सचे पुरिमं सचं, पच्छिमं ते मिच्छा, सचे पच्छिमं सचं, पुरिमं ते मिच्छा" के रूप में परस्पर विरोध बतलाया है। बुद्धबोध ने महावीर की इस स्वप्नकारी विचारधारा को उच्छेदवाद और भावकतवाद का संनिघण्टु कहा है। इन सब उद्धरणों से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि भगवान् बुद्ध के काल में तीर्थंकर परमर्नाथ और महावीर के सिद्धान्तों में स्याद्वाद अपने प्राथमिक रूप में विकसित था। मूल-कृताङ्ग का अन्य उद्धरण भी हमारे मत का पोषक बन जाते हैं।

### नयवाद

नय और निक्षेप इसी स्याद्वाद के अंग-प्रस्यंग हैं। नय प्रमाण द्वारा ज्ञान वस्तु का एक देश ग्रहण करता है। प्रमाण घड़े की पूर्ण रूप से जानता है जबकि नय उसे मात्र रूपवान् घट मानता है। बौद्ध-साहित्य में वस्तु-निक्षेप को जानने के 10 मार्ग बताये गये हैं—प्रनुस्सवेन, परंपरात्, इतिकिरिय, पिटकसंपदाय, भम्भकप-ताय, समसो न गुह, तक्किहेतु, नयहेतु, आकारपरिवितक्केन और विट्ठित्ठिअमानक-न्तिया। इसमें आठवां मार्ग नयहेतु है जो किसी एक निरांश विक्षेप की ओर संकेत करता है। शीलाकाचार्य ने नय के उद्देश्य व लक्षण को किसी अन्य भाषाओं का उद्धरण देकर प्रस्तुत किया है। उन्होंने लिखा है कि वस्तु को उसे ग्रहण और त्याग करना चाहिए। यही नय है—

एणाम्मि गिण्हियब्बे, अग्निठ्हियब्बंमि भेव अत्तंमि ।

अइयब्बमेव इति जो, उवएसो सो नसो नाम ॥

सूत्रकृताङ्ग के मूलरूप में नय-निक्षेप के भेदों का बर्णन नहीं मिलता। संभव है, जब इसकी रचना की गई हो, इन भेदों का जन्म न हुआ हो भगवान् सिर्फ मूल को संकेतित करने की प्रयत्ना रही हो। शीलाकाचार्य ने प्रथम एक-दो स्थानों पर प्रसंग लाकर नय और निक्षेपों के भेदों का प्रत्यक्ष विवेचन प्रस्तुत किया है। उन्होंने नय के प्रायः सर्वमान्य सात भेद बताये हैं—वैगम, संग्रह, व्यक्तहार, अकुल्ल, अण्ड, समअण्ड व एवंभूत। इनमें प्रथम चार नय अर्थनय हैं और तीन नय अर्थ नय हैं।

व्यक्तहार ने इन सप्त नयों को एक सूत्र में संक्षिप्त करते हुए इनके संक्षिप्त अर्थों को भी उल्लेखित है। वैगमनस सामान्य और निक्षेप रूप होने से संग्रह और व्यक्तहार में वैगम ही प्राप्त है इत्यन्तु संग्रह भावि अर्थ नय है। समअण्ड और एवंभूत नय का अर्थनय में प्रवेश हो जाने से वैगम, संग्रह, व्यक्तहार, अकुल्ल और

शब्द ये शेष नय हैं। नैगमनय जी व्यवहार में अन्तर्भूत हो जाता है अतः चार ही नय हैं। व्यवहार भी सामान्य और विशेष रूप है इसलिए सामान्य और विशेषात्मक संग्रह और ऋजुसूत्र में इसका अन्तर्भाव हो जाता है। अतः संग्रह, ऋजुसूत्र और शब्द ये तीन नय हैं। ये तीन नय भी द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक में अन्तर्भूत हो जाते हैं इसलिए द्रव्यास्तिक और पर्यायास्तिक ये दो नय हैं। इन्हीं को द्रव्याधिक और पर्यायाधिक अथवा निश्चय और व्यवहारनय भी कहा जाता है। ये सभी नय ज्ञान और क्रिया में गमित हो जाते हैं। अतः ज्ञान और क्रिया नामक दो नय हैं। उनमें ज्ञाननय ज्ञान को प्रधानता देता है और क्रियानय क्रिया को मुख्य मानता है। वस्तुतः पृथक्-पृथक् रूप से सभी नय मिथ्या हैं और ज्ञान तथा क्रिया ये दोनों परस्पर की अपेक्षा से मोक्ष के अंग हैं, इसलिए इस वर्णन में दोनों ही प्रधान हैं। ज्ञान और क्रिया ये दोनों भिन्न-भिन्न विषय के साधक हैं, परन्तु परमार्थतः समुदित रूप में पंगु और अंगे के नमान अभिप्रेत फल (मोक्ष) देने में सक्षम हैं। इसलिए कहा है—

सर्वे सिपि एयारा, बहुबिहवत्तव्यं एसामेत्ता ।

त सव्वण्य विसुद्ध, जं चरणगुणट्टिपो साहू ॥

वस्तु अनंत धर्मवान् है अतएव कथनाद्धति भी अनंत होनी चाहिए। इसलिए लिखा गया है—

जावइया वयणपहा, तावइया चेव होंति नयवाया ।

अर्थात् जितने वचन पक्ष हैं उतने ही नय प्रकार होते हैं फिर भी आचार्यों ने इन नयों को अधिक से अधिक उक्त रूप से सात भागों में और कम से कम दो भागों में विभाजित किया है। इन सात नयों के संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार हैं—

(1) नैगमनय—सामान्यात्मक और विशेषात्मक वस्तु का एक प्रकार से ज्ञान नहीं होना, नैगमनय है। सर्वाथसिद्धि में संकल्प मान को ग्रहण करने वाला नैगमनय बताया है। इसका दूसरा नाम नैकममः अथवा नैकमगमः दिया गया है। इसका अर्थ है कि यह नय किसी एक विषय पर सीमित नहीं रहता, वीर्य, और प्रधान रूप से धर्म और धर्मों दोनों का विषय-कर्ता है। समस्त पदार्थों में रहने वाली सत्ता को महासामान्य और द्रव्यत्व, जीवत्व आदि में रहने वाली सत्ताको अपस्तसाल-सामान्य कहा जाता है। यह नय परमाणु आदि विशेष पदार्थों के गुणों का भी परिच्छेदक रहता है। अनुयोगद्वार में इस नय को निलयन्, प्रस्थक और प्रवेश इन तीन कृष्णवर्णों के मध्यम से समझाया है। धर्म-धर्मों अथवा गुण-गुणों में सर्वथा भेद मानना-नैगमाभास कहलाता है। इस दृष्टि से नैयायिक-वैशेषिक और सांख्य-दर्शन वैभवाभासी हैं।





ये नय उत्तरोत्तर सूक्ष्म विषय को ग्रहण करने वाले हैं। नैगम-नय सत्-  
 प्रसत् दोनों का ग्राहक है किन्तु संग्रहण मात्र सत् को ही ग्रहण करता है।  
 व्यवहार-नय की सीमा त्रिकालवर्ती पदार्थ को ग्रहण करना है। किन्तु अस्तित्व-  
 वर्तमान पदार्थ को ही जान पाता है। शब्दनय पर्यायभेद होने पर भी अमिन्न अर्थ  
 को स्वीकार करता है। एवंभूतनय क्रियाभेद से अर्थ को ग्रहण कर सबसे सूक्ष्म विषय  
 को स्वीकार करने वाला नय है।

### निक्षेपवाद

निक्षेप का अर्थ रत्नमा अथवा नियोजित करना है। शब्द के अर्थ वस्तु,  
 बोधव्य, काल, प्रसंग आदि के कारण भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। ये कथन या तो  
 भेदप्रधान होते हैं या फिर अभेदप्रधान। यद्यपि मौलिक अस्तित्व द्रव्य का है परन्तु  
 उसका व्यावहारिक अर्थ के सम्भव नहीं अतः व्यवहार के निमित्त पदार्थों का निक्षेप  
 आचार्यों ने चार अर्थों में प्रयुक्त किया है—नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव। वस्तु  
 अपने विवक्षित अर्थ को दृष्टी के माध्यम से व्यक्त करता है। यही निक्षेप है।  
 परिज्ञा शब्द का भी निक्षेप अर्थ में प्रयोग हुआ है। परिज्ञा दो प्रकार की है—द्रव्य-  
 परिज्ञा और भाव-परिज्ञा। भाव-परिज्ञा के भी दो भेद हैं—ज्ञा-परिज्ञा और प्रत्याख्यान-  
 परिज्ञा। द्रव्य-परिज्ञा तीन प्रकार की है—सचित्त, अचित्त और मिश्र। पौण्डरीक  
 अध्ययन में निक्षेप के आठ भेद बताये बताये गये हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र,  
 काल, गणना, संस्थान और भाव। वहीं गणना और संस्थान को छोड़कर छह भेद  
 भी बताये गये हैं। अथ स्थापना पर निक्षेप के पाँच भेद गिनाये गये हैं—नाम,  
 स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र और भाव। प्रथम अध्ययन में शीलांक ने निक्षेप के तीन भेद  
 किये हैं—शोध निष्पन्न, नामनिष्पन्न और सूत्रालापक निष्पन्न। नामनिष्पन्न के बारह  
 प्रकार मिलते हैं—नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, कुर्तृत्व, संगार, कुल, गण,  
 संकर, गण्डी और भाव। इसके उदाहरण आदि भी यहाँ दिये गये हैं—

नामठवणा वविए सेते काले कुतित्थसंगारे।

कुलगणा संकर गंडी बोद्धवो भाव समए य ॥

निक्षेप का मुख्य प्रयोजन अप्रस्तुत का निराकरण कर प्रस्तुत का बोध  
 कराना, संशय को दूर करना और तत्त्वार्थ का अवधारण करना है—

अवगयणिवारणह पयदस्स, पक्खणारणमित्तं च।

संसवविशासराट्ठं, तच्चत्थवधारणत्ठं च ॥

### स्वाभाव

स्वाभाव भाषा की वह निर्दोष प्रणाली है जिसके माध्यम से अज्ञान, भ्रमों के  
 विचारों का समावर करता है। अनेकान्त यद्यपि स्थूलतः स्वाभाव का अर्थस्वाभावी  
 शब्द कहा जा सकता है फिर भी दोनों में भेद है। स्वाभाव भाषा-बोध से अज्ञान

है और अनेकान्तवाद चिन्तन को निर्दोष घोषित करता है। दूसरे शब्दों में यह कह सकते हैं कि अनेकान्तवाद पूर्वक स्याद्वाद होता है क्योंकि निवृत्त चिन्तन के बिना दोषमुक्त ज्ञान का प्रयोग सम्यक् रीति से नहीं हो सकता। अनेकान्तवाद के अनुसार वस्तु अनेक कथयित्वक है। यह न सत् है, धीर न असत्, न नित्य है, न अनित्य किन्तु किसी अपेक्षा से सत् है, असत् है, नित्य है और अनित्य भी है। सत्, सर्वथा सत्, असत्, नित्य, अनित्य इत्यादि एकान्तवादों का निरसन करके वस्तु का स्वरूप कथयित्व, सत्, असत्, नित्य, अनित्य निर्धारित करना अनेकान्त है। पारस्परिक विचार-संघर्ष को दूर कर शान्ति को विरस्थायी बनाने का यह एक अमोघ अस्त्र है। इस स्थिति में यह परापवादक कैसे हो सकता है—

नेत्रे निरीक्ष्य चित्तकण्ठक, कीटसर्पान् ।  
सम्यक् यथा व्रजति, तत्परि हृत्य सर्पान् ॥  
कुक्कान् कुशुति कुमार्गं, दृष्टि दीवान्,  
सम्यक् विचारयत, कोइय परापवादः ॥

स्याद्वाद में 'स्यात्' शब्द कथयित्व अर्थ का लोचक है। यह शब्द संतव, सभासना, कदाचित् अथवा अनिश्चित अर्थ का प्रतीक नहीं, प्रत्युत अपेक्षाकृत दृष्टि से सुनिश्चित अर्थ की अभिव्यक्ति करने वाला है। इसमें स्व-पर ब्रह्म, क्षेत्र, काल, भाव से वस्तु के सम्पर्क में विचार किया जाता है। वस्तु के नित्या-नित्यात्मक भेद-भेदात्मक, एकानकार्थक आदि तत्वों को स्याद्वाद एक सुनिश्चित दृष्टिकोण की पृष्ठभूमि में उपस्थापित करता है।

वस्तु की तीन अवस्थायें रहती हैं। सर्वप्रथम उसकी उत्पत्ति होती है, उसके बाद भिन्न-भिन्न पर्यायों में परिणामन रूप विकास दिखाई देता है जिसे व्यय कहते हैं इस परिणामन अथवा व्यय की अवस्था में कुछ तत्व ऐसे भी रहते हैं जिनमें परिवर्तन नहीं होता। इन अपरिवर्तनशील तत्वों को ध्रौव्य कहा जाता है। इस सिद्धान्त को सुस्पष्ट करने के लिए श्रीलाकाचार्य ने एक परम्परागत प्रसिद्ध उदाहरण दिया है—

घटमौलिमुवर्णाधी, नाशोत्पादस्थितिव्ययम् ।  
लोकप्रसौदमाध्यस्थ्य, जनो याति सहेतुकम् ॥

### सप्तमङ्गी

शब्द में विधेयात्मक और निधेकार्थक प्रवृत्ति हुआ करती है। पदार्थों में ये दोनों प्रकार के तत्व अनन्तरूप से विद्यमान हैं। उनका कथन प्रकार-सप्तमङ्गी द्वारा करने का प्रयत्न किया गया है। एक वस्तु में अनेकान्तत्व प्रत्यक्ष और अनुभव से अविच्छिन्न विधि और निधेय की कल्पना को सम्पुञ्जी कहा जाता है। अष्टसूत्री में सप्तमङ्गी इस प्रकार से विविष्ट है।

1. विधिकल्पना (स्यादस्ति) ।
2. प्रतिषेधकल्पना (स्यान्नास्ति) ।
3. क्रमशः विधि प्रतिषेध-कल्पना (स्यादस्तिनास्ति) ।
4. युगपद् विधि प्रतिषेध-कल्पना (स्यादवक्तव्यम्) ।
5. विधिकल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेधकल्पना (स्यान्नास्ति-स्यादवक्तव्यम्) ।
6. प्रतिषेध-कल्पना और युगपद् विधि प्रतिषेध-कल्पना (स्यान्नास्ति-स्यादवक्तव्यम्) ।
7. क्रमशः और युगपद् विधि प्रतिषेध-कल्पना (स्यादस्तिनास्ति-स्यादवक्तव्यम्) ।

इन सात भङ्गों के प्रतिरिक्त बाठवा भङ्ग होना सम्भव नहीं। इन भङ्गों में मूलतः तीन भङ्ग हैं। तीन वस्तुओं का समिश्रण वैज्ञानिक आधार पर सात वस्तुओं से अधिक वस्तुओं की उत्पत्ति नहीं कर सकता। इसलिए सात भङ्गों से अधिक भङ्ग हो नहीं सकता। सात भङ्गों के क्रम-विधान में आचार्यों के बीच मतभेद दिखाई देता है।

सर्वप्रथम आचार्य कुन्दकुन्द ने सात भङ्गों का नामोल्लेख मात्र किया है। उनमें से प्रवचनसार (गाथा 2.23) में स्यादवक्तव्य को तृतीय भङ्ग और स्यादस्ति नास्ति को चतुर्थ भङ्ग माना है किन्तु पञ्चास्तिकाय (गाथा 14) में स्यादस्तिनास्ति को तृतीय और अदवक्तव्य को चतुर्थ भङ्ग माना है। इसी तरह अकलंकी ने अपने तत्त्वार्थशास्त्रिक में दो स्थलों पर सप्तभङ्गों का कथन किया है। उनमें से एक स्थल (पृ. 353) पर उन्होंने प्रवचनसार का क्रम अपनाया है और दूसरे स्थल (पृ. 33) पर पञ्चास्तिकाय का। सभाष्य तत्त्वाधीनगम (अ. 5/51 सू.) और विशेषज्ञ-शक भाष्य (गा. 2232) में प्रथम क्रम अपनाया गया है। किन्तु प्राप्तीमीमांसा (कारिका 14), तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक (पृ. 128), प्रमेयकमलमातंङ्ग (पृ. 682), प्रमासुनसत-त्वालोकालकार (पार. 4, सू. 17-18), स्याद्वादमजरी (पृ. 189), सप्तमनीटपरिचयी (पृ. 2) और नयोपदेश (पृ. 12) में दूसरा क्रम अपनाया गया है। इससे लगता है कि दार्शनिक क्षेत्र में स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय और स्यादवक्तव्य को चतुर्थ भङ्ग मानकर सप्तभङ्गों का उल्लेख किया है। वस्तुतः स्यादस्ति-नास्ति को तृतीय भङ्ग मानना कहीं अधिक उचित है। शायद यह शीलांक को भी स्वीकार रहा होगा। उनके द्वारा उल्लिखित भङ्गों से यह बात अधिक स्पष्ट हो जाती है।

(1) क्रिया स्थानों के वर्णन के प्रसंग में चार विभङ्गों का उल्लेख है—

1. सञ्चितो वेदनासमुत्पन्नान्ति विदन्ति च,
2. सिद्धास्तु विदन्ति नानुभवन्ति,
3. असञ्चितोऽनुभवन्ति न पुनर्विदन्ति,
4. अज्ञीवास्तु न विदन्ति नानुभवन्ति ।

(2) किन्तु के परस्परपरस्परिच्छेद अन्वयार के संबंध में बहिर्वर्तित चार प्रश्न हैं-

1. अन्वयार्त्त सर्वत्र 'न' निश्चितं ।
2. अन्वयार्त्त अन्वयस्य निश्चितं ।
3. अन्वयस्य 'इत्तं' तत्त्वैव निश्चितं ।
4. अन्वयस्य 'इत्तं' अन्वयस्य निश्चितं ।

बौद्ध-साहित्य में भी ये चारों भङ्ग दिखाई देते हैं। संज्ञेय वैलटिष्ठपूत और गोतम बुद्ध की पचुष्कोटिका प्रसिद्ध ही हैं। मकखलिगीशाल का त्रैलोकिक-सिद्धांत का भी इस सन्दर्भ में उल्लेख किया जा सकता है। पचुष्कोटिकसिद्धांत की प्रियेष्वा-त्रिको-टिक सिद्धांत प्राचीनतर होना चाहिए। अष्टादशमशताब्दी में त्रिपिटकसंस्कृत के अनु-यायी श्रीपद्मस्य परिब्राजक के कथन में यह त्रिकोटिक प्रथम विशेष उल्लेखनीय है—

1. सर्वत्र मे खमति (स्यावस्ति) ।
2. सर्वत्र मे न खमति (स्यानास्ति)
3. एकच्च मे खमति, एकच्च मे न खमति (स्यावस्ति-नास्ति) ।

इस उल्लेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'स्यावस्ति-नास्ति' नामक भङ्ग की गणना तृतीय भङ्ग के रूप में होनी चाहिए।

## 2. ध्यान का मनोबुद्धिज्ञान विश्लेषण

मानवीय विज्ञानों में मनोविज्ञान आज एक अत्यन्त लोकप्रिय विषय हो गया है। व्यक्ति की प्रत्येक क्रिया का सबन्ध उसके मन से जोड़ा जाता है। यह तथ्य-संगत ही थी। जीव की मानसिक अवस्था का ही चित्रण निरसंबद्ध उसकी दैनिक क्रियाओं में होता है। भाव, उद्वेग, सवेग, स्मृति, कल्पना, विस्मृति, अनुभव, भावत ध्यान, प्रत्यक्षीकरण आदि असंगी से यह सम्बद्ध रहता है। यही उसका क्षेत्र है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मनोविज्ञान प्राणी की क्रियाओं अथवा उसके व्यवहारों का अध्ययन प्रस्तुत करता है।

जैन दर्शन में वर्णित ध्यान का क्षेत्र भी मनोविज्ञान के उक्त क्षेत्र से पुषक्त नहीं।

प्राचीन काल में मनोविज्ञान दर्शन के साथ जुड़ा हुआ था। परन्तु प्रागुक्तिक मनोविज्ञान ने दर्शन के क्षेत्र से हटकर अपना स्वतंत्र अस्तित्व बना लिया है। दर्शन के क्षेत्र में संसार और मोक्ष की बात आती है। परन्तु प्रागुक्तिक मनोविज्ञान साधारणतः इससे दूर है। यद्यपि यहाँ संवेग आदि भावों का सुन्दर विश्लेषण मिलता है परन्तु कर्म जैसे सिद्धांतों से उसका सीधा सम्बन्ध नहीं। तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाये तो स्थूलतः प्रागुक्तिक मनोविज्ञान और जैन दर्शन के ध्यान के क्षेत्रों में मनो-विज्ञान समान रूप से व्यक्ति के मन अथवा भावसिक क्रियाओं पर केन्द्रित है।

ध्यान का सकल ज्ञान (साहित्य में "एकाग्र चिन्ता निरोधो" कहा गया है<sup>१</sup> वहाँ चिन्ता का तात्पर्य है अन्तःकरण व्यापार—चिन्ता अन्तःकरण की वृत्ति।<sup>२</sup> बसन्त, मोहन, ज्ञान, अध्ययन आदि विविध क्रियाओं में अटकने वाली चिन्तवृत्ति का एक क्रिया में रोक देना निरोध है। अग्र का तात्पर्य प्रधान के अतिरिक्त "अज्ञातीति अग्रम आत्मा" कहा गया है। इस व्युत्पत्ति से ध्यान का तात्पर्य है प्रधान आत्मा को लक्ष्य बनाकर चिन्ता का निरोध करना। इसमें बाह्य चिन्ताओं के निवृत्ति होती है और स्वकीय वृत्ति में प्रवृत्ति होती है।<sup>३</sup>

ध्यान की परिभाषा में ध्यान के अतिरिक्त ध्याता और ध्येय (पालम्ब-विषय) भी समाविष्ट है अर्थात् किसी पालम्बन पर जब ध्याता अन्तःकरण की व्यापारिक क्रियाओं को केन्द्रित करता है तब हम उसे ध्यान कहते हैं। प्राथमिक मनो-विज्ञान में भी ध्यान की परिभाषा यही दी गई है।<sup>४</sup>

ज्ञान धर्म में ध्यान के चार प्रकार किये गये हैं—मार्त ध्यान, रोध ध्यान, धर्म ध्यान, और शुक्ल ध्यान।<sup>५</sup> "विष, शत्रु, शस्त्र आदि दुःखद अप्रिय वस्तुओं से मिल जाने पर ये भुक्त से कैसे दूर हो" इस प्रकार की सबल चिन्ता करना मार्त ध्यान है। इसमें क्रन्दन, दीनता, अश्रु बहाना और विलाप करना जैसे लक्षण मिलते हैं। बाधक तत्वों के ध्यान पर स्वभावतया व्यक्ति का मन और उसकी क्रियायें उन तत्वों को दूर करने में जुट जाती है। दूर करने की चेष्टाओं में जब शक्ति क्षीण हो जाती है तब वह रोने चिल्लाने लगता है। इस प्रवृत्ति के अन्तर्गत अरुचिकर संयोग को वियुक्त करना, रुचिकर संयोग को पृथक् होने देना, सम्प्रयुक्त होने पर उसके विप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना और प्रीति जनक काम भोगों के सम्प्रयोग से सम्प्रयुक्त होने पर उनके अविप्रयोग की स्मृति से समन्वागत होना, ये चार प्रकार के मनोभाव दिखाई देते हैं।<sup>६</sup> इनके होने पर व्यक्ति का मन सबेव वृत्तित

1. उत्तम सहननस्यैकाग्रचिन्तानिरोधो ध्यानमास्तुर्भूत्सर्वत्—तत्त्वायं सूत्र 9. 26.
2. तत्त्वायं वार्तिक 9. 27. 4.
3. वही—9. 27. 29
4. चिन्तवृत्तियों को सभी पदार्थों से हटाकर किसी एक विशेष पदार्थ अथवा विषय पर केन्द्रित कर लेना, ध्यान है—मनोविज्ञान, पं. जगद्गुरु पादिक पृष्ठ 277
5. तत्त्वायं सूत्र 9. 28.
6. वही 9. 30.



उपदेशों पर चलकर बहुत कुछ निर्माही हो जाता है और उसकी भावनात्मक प्रवृत्तियाँ सांसारिक भावनाओं से दूर हो जाती हैं।<sup>1</sup>

शुद्ध ध्यान में साधक आत्मवस्तु में चित्त को स्थिर करता है। शुद्ध ध्यान के चार भेद ब्रह्म में भये हैं—पुष्पकटक विवरक, सविचारी (ब्रह्म के अक्षयमन्त्र के अर्थ पर विचार करना), एकत्व त्रिवेक सविचारी (द्रव्य की किसी एक प्रकृति अत्र अक्षय रूप से चिंतन करना), सूक्ष्म क्रिया अनिवृत्ति (चञ्चलवात आदि सूक्ष्म क्रियाओं से निवृत्ति न होने के पूर्व उत्पन्न होने वाला ध्यान), व्युत्पन्न क्रिया-निवृत्ति-अथवा समुत्पन्न क्रिया अप्रतिपत्ति (स्वसोच्छ्वास आदि समस्त क्रियाओं के बाँक हो जाने से एकदम हुई निवृत्ति-अवस्था)।<sup>2</sup> त्रिवेक, व्युत्पन्न, अक्षयवा, और अक्षयमेव, ये शुद्ध ध्यान के चार अक्षय हैं। क्षति, मुक्ति, आनंद और आनंद के चार अक्षय अक्षय हैं। अपायानुप्रेक्षा, अनुप्रेक्षा, अनन्त वृत्तितानुप्रेक्षा और क्षिप्रिणात्प्रोक्तः ये चार उसकी अनुप्रेक्षाये है। शुद्ध ध्यान का प्रथम ध्यान आरंभ गुरुस्थान से ग्यारहवें गुरु-स्थान तक, दूसरा ध्यान तेरहवें गुरुस्थान में, तीसरा ध्यान तेरहवें गुरु स्थान के अन्तिम भाग में और चौथा ध्यान चौदहवें गुरुस्थान में होता है। प्रथम दो ध्यान साल बन होने के कारण श्रुतज्ञानी के होते हैं तथा शेष दो ध्यान निरालम्बन होने के कारण केवलज्ञानी के होते हैं।<sup>3</sup>

ध्यान के उपर्युक्त चार भेदों में व्यक्ति के विकास की अवस्थाएँ प्रदर्शित की गई हैं। ध्यान का स्वरूप जैनोत्तर दशकों में भी बरिष्ठ है, परन्तु मानव के विकासात्मक विधान की समरचनाओं उनमें दिखाई नहीं देती। जैनधर्म क ध्यान की यह सबसे बड़ी विशेषता है।

जैन धर्म की दृष्टि से आत्मा का स्वरूप यद्यपि मूलतः विभुद माना गया है, परन्तु विविध कर्मों के ससंग से वह अविभुद होता जाता है। ससार की सांसारिक अशुद्ध भावना का प्रतीक प्रथम भास ध्यान है और उससे कुछ कम द्वितीय रौद्र ध्यान है। ये दोनों भास और रौद्र ध्यान अप्रशस्त माने गये हैं। शेष अन्तिम दो ध्यान प्रशस्त माने जाते हैं और वे मुक्ति के कारण हैं।

अप्रशस्त और प्रशस्त ध्यानों के बीच की एक ऐसी संक्रमण अवस्था है जहाँ साधक की मानसिक चेतना पापमयी वासना से कुछ सीमा तक दूर हो जाती है और वह मूलनीय धर्म की ओर अपना पग बढ़ाने का प्रयत्न करता है वह अवस्था में जैन दार्शनिक ने मनोवैज्ञानिक ढंग से पूर्णबोधी अज्ञत् प्रवृत्तियों में अज्ञत् प्रवृत्तियों

1. तत्त्वार्थ वातिक, 9. 36.
2. तत्त्वार्थसूत्र, 9. 36.
3. वही, 9. 37.38.



को वास्तु करने का मनोबल एवं प्रयत्न था। सर्वप्रथम अपने मनोबल का मन में एक व्यक्ति विशेष को प्रति, इस व्यक्ति, लोभ, स्वयंसेवा, अतिशय निम्नतर करता है और बने: बने: उसे जिनकाशन के अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। उक्त अनादि इस दुर्लभ कार्यों उपवेश दिया जाता है इस अवस्था में व्यक्ति को सिद्धांतों का सर्वज्ञ और परिपालक बन जाता है। यही उसकी धार्मिक अवस्था प्रकट हो जाती है। ध्यान बू कि चलता होता है इसलिए उसके विरत रहने के लिए पूर्व विषयक कथा साहित्य का प्रयोजन किया जाता है। धर्मध्यान को सुस्तिर रखने के लिए उसकी वस्तु निम्न-वस्तुओं (पीठिता, आकार, गति, स्थिति, रूप, नवीनता-अनुचितन) पर मनोबैज्ञानिक ढंग से विचार किया जाता है।

इस प्रकार जैन धर्म में वर्णित ध्यान के स्वल्प का मनोबैज्ञानिक विश्लेषण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि ध्यान व्यक्ति की प्रमुख मानसिक प्रवृत्तियों का प्रमुख मानसिक अवस्था की ओर धार्मिक विकल्प है।

### 3. जैन भूगोल

समग्र भारतीय वाङ्मय की ओर दृष्टिपात करने से यह निष्कर्ष निकालना धर्मतिहासिक नहीं होगा कि उसका प्रारम्भिक रूप श्रुति परम्परा के सम्बन्ध में पीढ़ी दर पीढ़ी गुञ्जस्ता हुआ उस समय संकलित होकर सामने आया जबकि उसके आभार पर काफी साहित्य निमित्त हो चुका था। यह तथ्य वैदिक, जैन और बौद्ध तीनों संस्कृतियों के प्राचीन पन्नों के उलटने से उद्घाटित होता है। ऐसी स्थिति में प्राम्थनिक सूत्रों में प्रथम आवश्यकता परिस्थिति और सुविधा के अनुसार परिवर्तन और परिवर्धन होता ही रहा है। वेद, प्राकृत और जैन भाषण तथा लिपिक साहित्य का विकास इस तथ्य का निदर्शन है।

इसी प्रकार यह तथ्य भी हमसे छिपा नहीं है कि तीनों संस्कृतियों ने अपने साहित्य में तत्कालीन प्रचलित लोक कथाओं और लोक गामाओं का अपने-अपने ढंग से उपयोग किया है। यही कारण है कि लोक कथा साहित्य की सामाजिक कथायें कुछ हेर-फेर के साथ तीनों संस्कृतियों के साहित्य में प्रकट हुई हैं।

इन कथाओं के मूल जस के खोजना सरल नहीं है। किन्तु हमें किन्हीं कथाओं से लेकर अन्तर्भाव किया है उसे निष्कर्ष रूप से कह नहीं जा सकता। इसीलिए यह मानकर अवस्था अधिक उचित होगा कि इस प्रकार के कथाओं में लोक कथाओं के प्रचलित होने का उपयोग सभी धर्मिकानों ने अपने-अपने साहित्यों के प्रतिपादन की दृष्टिपूर्ति में किया है।

यही एक धर्मोपलक्ष्य मान्यता का प्रश्न है, यह विषय भी कम विवादास्पद नहीं। तीनों संस्कृतियों के भौतिक साहित्यों का उत्स एक ही रहा होगा बिना लक्ष्य है, कुछ परिवर्तन के साथ-साथ के लक्ष्य के विकृत कर दिया। इस

संश्रम में जब हम भारतीय भौगोलिक ज्ञान के ऊपर दृष्टिपात करते हैं—तब हम उसके विकासवैयक्तिक स्वस्व को आठ प्रमुख युगों में विभाजित कर सकते हैं—

1. सिंधु सभ्यता काल (प्रादिकाल से लेकर 1500 ई. पू. तक)
2. वैदिक काल (2000 ई. पू. तक)
3. संहिता काल (1500 ई. पू. तक)
4. उपनिषद् काल (1500 ई. पू. से 600 ई. पू. तक)
5. रामायण-महाभारत काल (1600 से ई. पू. से 600 ई. पू. तक)
6. जैन-बौद्ध काल (600 ई. पू. से 200 ई. तक)
7. नया पीराणिक काल (200 से 800 ईसवी तक)
8. मध्यकाल (800 से लगभग 16 वीं शताब्दि तक)

भारतीय भौगोलिक ज्ञान का यह काल विभाजन एक सामान्य दृष्टि से किया गया है। इन कालों में मूल भौगोलिक परम्परा का विकास सुनिश्चित रूप से हुआ है।

भूगोल (Geography) यूनानी भाषा के दो पदों Ge तथा grapho से मिलकर बना है। ge का अर्थ पृथ्वी और grapho का अर्थ वर्णन करना है। इस प्रकार geograpoy की परिधि में पृथ्वी का वर्णन किया जाता है।

भूगोल जिसे हम साधारणतः पीराणिकता के साथ जोड़ते चले आये हैं, आज हमारे सामने एक प्रगतिशील विज्ञान के रूप में खड़ा हो गया है। उसका उद्देश्य और अध्ययन काफी विस्तृत होता चला जा रहा है। उद्देश्य के रूप में उसने मानव की उन्नति और कल्याण के क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण योगदान दिया है इसलिए आज यह अन्तरवैज्ञानिक (Interdisciplinary) विषय बन गया है।

जैसे-जैसे भूगोल के अध्ययन का विकास होता गया विद्वानों ने उसे परिभाषाओं से बांधने का प्रयत्न किया है। ऐसे विद्वानों में एकरमेन, ल्यूकरमेन, यीट्स रिट्टर, हेटनर, प्रादि विद्वान प्रमुख हैं जिनकी परिभाषाओं के आधार पर भूगोल की निम्नलिखित परिभाषा प्रस्तुत की जाती है—'भूगोल वह विज्ञान है जो पृथ्वी का अध्ययन तथा वर्णन मानवीय सत्ता या मानवीय निवास के रूप में, 1. क्षेत्रों या स्थानों की विशेषताओं 2. क्षेत्रीय विविधताओं तथा 3. स्थानीय संबंधों की पृष्ठ-भूमि में करता है। इस प्रकार भूगोल पृथ्वी पर वितरणों का विज्ञान है (Science of distribution on Earth) है।

—mohkhause, F. D.

—A Dictionary of geography, London,

—भौगोलिक विचार धारों एवं विचित्र-वै. काविक.

इस परिभाषा के आधार पर, यह कल्पना अशक्य है, विशेष की प्रकृतियों की सीमा में पृथ्वीतल का अध्ययन प्रमुख है। इस कल्पना में चार प्रमुख सम्मिलित हैं—

1. पृथ्वीतल पर समस्त सब क्षणों और महासागरों के तल।
2. पृथ्वीतल से थोड़ी गहराई तक का सीमा प्रभावकारी परतें।
3. वायुमंडल, विशेषतः वायु मंडल का निचला परतें, जिसमें जलवायु की विभिन्नतायें होती हैं।
4. पृथ्वी के सौर सम्बन्ध।

पृथ्वी को केन्द्र में रखकर जर्मनी, फ्रांस, अमेरिका, सोवियत संघ आदि देशों में काफी शोध हुये हैं और हो रहे हैं। वहाँ के विद्वानों की भौतिक विचार धाराओं को हम एक दूसरे की परिपूरकता के संदर्भ में समझ सकते हैं। उनके अध्ययन में दो पक्ष उभरकर सामने आते हैं—

1. वातावरण और परिस्थिति विज्ञान
2. प्रादेशिक विभिन्नतायें और मानवीय प्रवृत्ति तथा कल्याण में अद्यतनतायें और असंतुलन।

इस संदर्भ में जब हम प्राचीन भूगोल और अर्वाचीन भूगोल की सीमा करते हैं तो हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्राचीन भूगोल कृत्रिम लोकाचार्यों पर आधारित रहा है और आधुनिक भूगोल वैज्ञानिक नदियों पर, अथवा बिल्कुल मानवीय साधनों की क्षमता और योग्यता पर अधिक बल दिया जाता है। प्राचीन भूगोल प्राथमिक प्रवृत्ति से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं रखता जबकि आधुनिक भूगोल का तो यह केन्द्रीय तत्व ही है। इसलिए आधुनिक भूगोल को व्यावहारिक भूगोल applied Geography कहा जाने लगा है। इसमें मुख्य रूप से—1. समूह व्यवहार—Group Behaviour तथा व्यावहारिक क्षेत्र में मानसिक समसंवेदन जैसे तत्वों पर विशेष विचार किया जाता है।

प्रारंभ से ही भूगोल का उद्देश्य और उपयोग व्यक्ति और समाज का विश्लेषण रहा है चाहे वह प्राथमिक रहा हो या लौकिक। आधुनिक व्यावहारिक भूगोल में प्राथमिक दृष्टि का कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है। इसलिए व्यावहारिक भूगोल की परिभाषा साधारण तौर पर इस प्रकार की जाती है—'समाज की आवश्यकताओं की पूर्तियों के लिए भौतिक वातावरण के समस्त वास्तविक, कालिक, स्थानिक, उपयोग करने के लिए भौतिक आधार-विचार, ज्ञानप्रवृत्तियों एवं तकनीकों का व्यावहारिक उपयोग ही व्यावहारिक भूगोल है।'

इस परिभाषा से यह स्पष्ट है कि व्यावहारिक भूगोल का उपयोग समाज के हित के लिए किया जाता है और इसीलिए इसके 'व्यवहार' की परिधि में समाज,

स्वतंत्रता का अध्ययन का माध्यम बनता है इसे हम निम्नलिखित वर्गीकरण के माध्यम से समझ सकते हैं—

1. भौतिक अध्ययन—भू-शास्त्र, जलवायु, समुद्री विज्ञान आदि इसके अन्तर्गत आता है।
2. आर्थिक अध्ययन—इसमें कृषि, प्रौद्योगिक, व्यापार, यातायात, पर्यटन आता है।
3. सामाजिक सांस्कृतिक अध्ययन—इसमें जनसंख्या, अधिवास (बसती, नगरीय, राजनीतिक, प्राथमिक, सैनिक आदि का अध्ययन होता है।
4. अन्य शास्त्रों—जीव, (वनस्पति), चिकित्सा मान चित्रकला आदि का अध्ययन होता है।

जैन भूगोल यद्यपि पौराणिकता को लिए हुए है फिर भी उसका यदि हम वर्गीकरण करें तो हम व्यावहारिक भूगोल के उपर्युक्त अध्ययन प्रकरणाँ से सम्बद्ध सामग्री को आसानी से खोज सकते हैं। इस दृष्टि से यह एक स्वतंत्र शोध-प्रबंध का विषय है।

जैसा हमने पहले कहा है जैन-भूगोल प्रश्न चिह्नों से दब गया है। प्राधुनिक भूगोल से वह निश्चित ही समग्र रूप से मेल नहीं खाता, इसका तात्पर्य यह नहीं कि जैन भूगोल का समूचा विषय अध्ययन और उपयोगिता के बाहर है। इस परिस्थिति में हमारा अध्ययन वस्तुपरकता की माँग करता है। प्राधुनिक अन्तर्गत वैज्ञानिक अन्वेषणों के साथ यदि हम पूरी तरह से न जोड़ें और तब तक रुक जायें जब तक उन्हें वैज्ञानिक स्वीकार न कर ले तो हम उन्मुक्त मन से दोनों पहलुओं को और उनके 'आधारों' को परिधि के भीतर रख सकते हैं।

जम्बूद्वीप तीनों सस्कृतियों में स्वीकार किया गया है अन्तर्ही उसकी सीमा के विषय में विवाद रहा हो। जैन सस्कृति में तो इसका वर्णन इतने अधिक विस्तार से मिलता है जितना जैनतर साहित्य में नहीं मिलता। पर्वत, गुफा, नदी, वृक्ष, अरण्य, देव, नगर आदि का वर्णन पाठक को हैरान कर देता है। इसका अध्ययन-वर्णन उन्मुक्त और संशयोक्ति में मिलता है। इन दोनों वर्णनों के आधार पर जम्बूद्वीप प्राचीन-सूर्य प्रज्ञप्ति और चन्द्र प्रज्ञप्ति की रचना हुई है। इन-सभी वर्णनों को ही अध्ययन-वर्णन की शताब्दी की रचना कह सकते हैं। आचार्य यतिवृद्ध की विद्येय पुराणिक भी इसी समय के आसपास की रचना होनी चाहिए। श्री पं. फूलचन्द सिन्हाल आर्य इस रचना को विक्रम-सं० ४७३ के आस-पास रचना समझते हैं। प्राचीन भी पं. सुभक्तिसिंह मुख्यार ने इसकी सन् के आसपास रचना का प्रयत्न करते हैं।

जब जूँप जैव संस्कृति में समस्त तथा अर्थात् मध्य लोक का सामान्यतया त्रिलोक क्षेत्रों में विभक्त किया गया है। इसके सारे संदर्भों को रखने की वही आवश्यकता नहीं है पर इतना अवश्य है कि पर्वत, नदी, नगर आदि की जो स्थितियाँ करणानुयोग में बरिष्ठ हैं उन्हें प्राधुनिक भूगोल के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयत्न किया जावे उदाहरण के तौर पर जब जूँप को यूरोपिका क्षेत्र से यदि पहिचाना जाय तो सायद उसकी अवस्थिति किसी सीमा तक स्वीकार की जा सकती है। इसी तरह सुमेरु को पामेर की पर्वत श्रेणियों के सामे रखा जा सकता है। हिमवान को हिमालय, निषध को हिन्दुकुश, नील को अलाई नाम, शिलरी को सायान से चिन्ताया जा सकता है। रम्यक को मध्य एशिया या दक्षिणी-पश्चिमी सीबेरिया, हैरप्यवत को उत्तरी सीबेरिया, उत्तर कुक को रूस तथा साइबेरिया से तुलना की जाये तो संभव है हम इन स्थलों की पहिचान कर सकते हैं। इसी प्रकार और स्थलों की भी तुलना करना उपयोगी होना।

इस प्रकार जैव भूगोल को प्राधुनिक भूगोल के व्यावहारिक पक्ष के साथ रखकर हम यह निष्कर्ष निकालना चाहते हैं कि जैव भूगोल का सम्बन्ध-वश कोरा बरुबास नहीं है उनके पारिभाषिक शब्दों को प्राधुनिक संदर्भों के साथ यदि मिलकर समझने की कोशिश की जाय तो संभव है कि हम काफी सीमा तक जैव भूगोलिक परम्परा को प्राप्तसात् कर सकेंगे।

जैव भूगोल के साथ सर्वज्ञता को नहीं जोड़ा जाना चाहिए। सर्वज्ञता का सम्बन्ध आत्मा और परमात्मा के साथ अधिक उचित प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यहाँ नहीं कि सर्वज्ञ को त्रिलोक से कोई लेना-देना नहीं रहा। जैव जर्मों-बायों ने पर लोक का वर्णन करने समय त्रिलोक का विस्तृत वर्णन किया है। इतना ही नहीं, लोकाकाश के अतिरिक्त अलोकाकाश का भी विवेचन प्रस्तुत किया है जो आज के वैज्ञानिक जगत में सही-सा उतार रहा है। सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि का जो भी प्रालेखन जैव साहित्य में हुआ है वह आज भी समझ खरा सिद्ध हो रहा है। कुछ बातें अवश्य ऐसी सामने आ रही हैं जो मूलतः वलत लगने लगी हैं आज के वैज्ञानिक क्षेत्र के संदर्भों में। पृथ्वी बाली के आकार जैसी बपटी है, सूर्य उसका परिभ्रमण करता है आदि जैसे कुछ मुद्दों ने जैव भूगोल को ही नहीं, बल्कि बौद्ध, वैदिक, क्रिश्चियन आदि अन्य बर्षों की मान्यताओं को भी अक्षुभ्र विषा है। इससे ऐसा लयता है कि आबायों ने अपने समय में प्रचलित कुछ जीवितिक मान्यताओं को परि वर्तन-परिवर्तन के साथ पचा लिया था। यही कारण है कि तीनों-चारों संस्कृतियों में कल्पित चर्यों का विवेचन समझ समान उपलब्ध होता है।

इसी तरह इहलोक का वर्णन करते समय जैमाबायों ने मध्यलोक का विस्तृत वर्णन किया है। इस प्रसंग में उन्होंने पर्वतों, नदियों, नगरों की भी साथ विषा है।

घौर उनकी सूक्ष्म विशेषताओं की घोर भी संकेत किया है। अम्बुद्वीप का लम्बा चौड़ा बर्णन घौर उसमें भी भरत क्षेत्र को एक छोटा-सा भूखण्ड बतसाने में पादक चकित-सा हो जाता है घौर फिर बिदेह जैसे उपलब्ध देशों-प्रदेशों की बड़ा के कोणों से जोड़ दिया जाने पर तो वह घौर जी विचक जाता है। इस संदर्भ में घौर सुक्रान है कि जिन नद्यों को हम अस्वीकार नहीं कर सकते घौर जो अन्न विशेषाभासी प्रतीत होने लगे हैं उनकी तथ्यात्मकता की स्वीकार करने में संकोच नहीं होना चाहिए।

जैन भौगोलिक साहित्य में भी काव्यात्मकता का प्रयोग किया गया है। कवि अपने कवित्व से पीछे खिसक नहीं सकता। इसलिए उसने नदियों पर्वतों आदि के बर्णन में भी कवित्व का भरपूर उपयोग किया है। उनके छोटे-से आकार-प्रकार को भी बृहदाकार का रूप दे दिया है। फिर जो भी प्रथम आचार्य ने लिख दिया उसके मूल स्वरूप की स्वीकार कर, उसी की परिधि में रहकर उसका बर्णन किया जाता रहा है। उस बर्णन में जहां भी वह अतिशयोक्ति का प्रयोग कर सका, किया है।

इतनी बड़ी कालावधि में नदियों के रूप तथा उनके मार्ग भी परिवर्तित हुए हैं। नामों में भी अन्तर आया है। यह हम भलीभांति जानते हैं। फिर जैन कवियों ने इन नामों का अनुवाद भी कर दिया अपनी आवश्यकतानुसार। प्रतीकों का भी उा योग किया नगर भी ध्वस्त हुए हैं घौर निमित्त हुए हैं। ऐसी स्थिति में प्राचीन भौगोलिक बर्णन आधुनिक भौगोलिक स्थिति के आलोक में कुछ उगमगाता-सा यदि नजर आये तो उससे बचाने की आवश्यकता नहीं है। उसे डलटा-सीधा सिद्ध करने की अपेक्षा अथवा वर्तमान भूगोल को अपलापित करने की अपेक्षा कदाग्रह छोड़कर स्वीकार कर लेना अधिक अच्छा है। वैज्ञानिक बरातल को छोड़कर अप्रत्यक्ष घौर अज्ञात यथास्थिति के परिपालन में अपनी शक्ति को लगाये रखने का कोई विशेष अर्थ नहीं मिलता। बल्कि इसका प्रतिफल यह घौर हो सकता है कि नई पीढ़ी उससे घौर दूर होती चली जाये। इसलिए धार्मिक मान्यता घौर वैज्ञानिक मान्यता के बीच जो सामंजस्य प्रस्थापित हो जाये उसे स्वीकार कर लिया जाना चाहिए घौर जो विरोध बरकर आये उस मात्र मान्यता की परिधि में निहित कर देना चाहिए। संभव है, आने का विज्ञान उसे भी सिद्ध कर दे।

## 4 जैन रहस्यवाद

व्यक्ति और सृष्टि के समक तन्मों की मनेषणा एक रहस्यवादी सत्य है और संभवतः इसीलिये किन्तकों और शोधकों में यह विषय विवादास्पद बनारहा है। अनुभव के माध्यम से किसी सत्य और परम आराध्य को कोचना इसकी मूलप्रवृत्ति रही है। इस मूलप्रवृत्ति की परिपूर्ति में साधक की जिज्ञासा और सर्वप्रधान बुद्धि विशेष-सौम्य-दान देती है। यहीं से दर्शन का जन्म होता है।

इसमें साधक स्वयं के मूल रूप में केन्द्रित साध्य की प्राप्ति का सुनिश्चित लक्ष्य निर्मित कर लेता है। साध्य की प्राप्ति काज में व्यक्तित्व का निर्माण होता है और इस व्यक्तित्व की सर्जना में अन्ध्यात्म चेतना का प्रबुध हाथ म्हुता है।

मानव स्वभावतया सृष्टि के रहस्य को जानने का तीव्र इच्छुक रहता है। उसके मन में सदैव यह जिज्ञासा बनी रहती है कि इस सृष्टि का रचयिता कौन है? शरीर का निर्माण कैसे होता है? शरीर के अन्दर यह कौन सी शक्ति है, जिसके अस्तित्व से उसमें स्पन्दन होता है और जिसके अभाव में उस स्पन्दन का कोन हो जाता है? यदि इस शक्ति को आत्मा वा ब्रह्म कहा जाय तो यह भित्त है क्या अस्तित्व? उसके अस्तित्व अथवा अनित्यत्व की स्थिति में कार्य-कला सम्बन्ध है और कर्मों से मुक्ति पाने पर उस शक्ति का क्या स्वकर्म है? रहस्यवाद के वैकल्पिक-मह है और इन अग्रम बिन्दुओं कासम्पाधान जैन-सिद्धान्त में अत्यन्त सुलभ और सरल ढंग से अनेकान्तत्रय का माध्यम लेकर किया गया है।

इस रहस्यवाद की दुरी के अन्वेषण में हर क्षेत्र में विविध प्रयत्न किये गये हैं और उन प्रयत्नों का एक विशेष इतिहास बना हुआ है। इसारी अत्यन्त बहुमूल्य पर वैदिक काल से लेकर आधुनिक काल तक दार्शनिकों ने इन प्रश्नों पर विचार-मनन किया है और उनका निष्कर्ष अन्मों के मूठों पर अंकित किया है। उपनिषद् काल में इस रहस्यवाद पर विशेष रूप से विचार प्रारम्भ हुआ और उसकी परिष्कृति तत्कालीन अन्य भारतीय दर्शनों में वापस हुई। अतएव इसका इतिहास किन्तुवादी

में प्राप्त योगी की मूर्तियों में भी देखा जा सकता है, परन्तु जब तक उसकी लिपि का परिज्ञान नहीं होता, इस सन्दर्भ में निश्चित नहीं जा सकता। मुंडकोपनिषद् के ये शब्द चित्तन की भूमिका पर बार-बार उतरते हैं जहां पर कहा गया है कि ब्रह्म न नेत्रों से, न श्रवणों से, न तप से और न कर्म से गृहीत होता है। विशुद्ध प्राणी उस ब्रह्म को ज्ञान-प्रसाद से साक्षात्कार करते हैं—

न चक्षुषा गृह्यते, नापि वाचा मान्मैर्देवैस्तपसा कर्मणा वा ।

ज्ञान—प्रसादेन विशुद्ध सत्त्वस्ततस्तु तं पश्यते निष्कले ध्यायमानः ॥

रहस्यवाद का यह सूत्र पालि-त्रिपिटक और प्राचीन जैनाग्रहों में भी उपलब्ध होता है। मज्झिमनिकाय का वह सन्दर्भ जैन-रहस्यवाद की प्राचीनता की दृष्टि से अत्यंत महत्वपूर्ण है, जिसमें कहा गया है कि निगण्ठ अपने पूर्व कर्मों की निर्जरा तप के बाध्यता से कर रहे हैं। इस सन्दर्भ से स्पष्ट है कि जैन सिद्धांत में आत्मा के विशुद्ध रूप को प्राप्त करने का प्रयत्न प्रयत्न किया जाता था। ब्रह्म जालसुत में अप-एप्ताधिष्ठि के प्रसंग में भगवान बुद्ध ने आत्मा को अरूपी और नित्य स्वीकार किये जाने के सिद्धांत का उल्लेख किया है। इसी सुरा में जैन-सिद्धांत की दृष्टि में रहस्यवाद व, अनेकान्तवाद का भी पता चलता है।

रहस्यवाद के इस स्वरूप को किसी ने गूहा माना और किसी ने स्वसवेद्य स्वीकार किया। जैन संस्कृति में मूलतः इसका "स्वसवेद्य" रूप मिलता है जब कि जैनैतर संस्कृति में गूहा रूप का प्राचुर्य देखा जाता है। जैन सिद्धांत का हर कोना स्वयं की अनुभूति से भरा है उसका हर पृष्ठ निजानुभव और चिदानन्द चैतन्यमय रस से आप्लावित है। अनुभूति के बाद तर्क का भी अपलाप नहीं किया गया बल्कि उसे एक विशुद्ध चिंतन के धरातल पर खड़ा कर दिया गया। भारतीय दर्शन के लिए तर्क का यह विशिष्ट स्थान-निर्धारण जैन संस्कृति का अनन्य योगदान है।

रहस्य वाचना का जैन असीम है। उस अमन्तशक्ति के श्रोत को खोजना खोजीय शक्ति के सामर्थ्य के बाहर है। अतः असीमता और परम विशुद्धता तक पहुंच पाया गया विद्वानन्द-चैतन्यरस का पान करना साधक का मूल उद्देश्य रहता है। इसलिए रहस्यवाद किवा दर्शन का प्रस्थान विन्दु संसार है जहां प्रात्यक्षिक और अप्रात्यक्षिक सुख-दुःख का अनुभव होता है और साधक चरम लक्ष्य रूप परम विशुद्ध अवस्था की प्राप्ति करता है। वहां पहुंचकर वह कृतकृत्य हो जाता है और अपना अवशक समाप्त कर लेता है। इस अवस्था की प्राप्ति का मार्ग ही रहस्य बना हुआ है।

उक्त रहस्य को समझने और अनुभूति में लाने के लिए निम्नलिखित प्रमुख तर्कों को आधार बनाया जा सकता है :—



1. जिज्ञासा का कीलुपक,
2. संसार-चक्र में अग्रगण्य करनेवाले आत्मा का स्वरूप,
3. संसार का स्वरूप,
4. संसार से मुक्त होने के उपाय और
5. मुक्त-प्रवस्था की परिकल्पना ।

प्रादिकाल से ही रहस्यवाद अग्रगण्य, अर्थात् बृहत् और दुर्बोध माना जाता रहा है। वेद, उपनिषद्, जैन और बौद्ध साहित्य में इसी रहस्यात्मक अनुभूतियों का विवेचन उपलब्ध होता है यह बात अलग है कि आज का रहस्यवाद अलग उस समय तक प्रचलित न रहा हो। 'रहस्य' सर्वसाधारण विषय है। स्वकीय अनुभूति उसमें संगठित है। अनुभूतियों की विविधता मत वैभिन्न्य को जन्म देती है। प्रत्येक अनुभूति वाद-विवाद का विषय बना है। शायद इसीलिए एक ही तथ्य को पृथक् पृथक् रूप में उनी प्रकार अभिव्यक्ति किया गया जिस प्रकार सड़ प्रयोगों के द्वारा हाकी है प्रयोगों की विवेचना कवियों ने इस तथ्य को सरल और सरस भाषा में प्रस्तुत किया है। उन्होंने परमात्मा के प्रति प्रेम और उसकी अनुभूति को "गूंगे कासा—गुड" बताया है—

'अकथ कहानी प्रेम की कछु कही न जाय ।

गूंगे केरि सरकरा, बंठा मुलकाई।'

जैन रहस्यवाद परिभाषा और विकास

रहस्यवाद शब्द अंग्रेजी "Mysticism" का अनुवाद है, जिसके प्रथमतः सन् 1920 में श्री मुकुटधर पांडेय ने छायावाद विषयक लेख में प्रयुक्त किया था। प्राचीन काल में इस सन्दर्भ में आत्मवाद अथवा अध्यात्मवाद शब्द का प्रयोग होता रहा है। यहाँ साधक आत्मा परमात्मा, स्वयं, नरक, राग-द्वेष आदि के विषय में चिन्तन करता था। धीरे-धीरे आचार और विचार का समन्वय हुआ और दार्शनिक चिन्तन आगे बढ़ने लगा। कालान्तर में दिव्य शक्ति की प्राप्ति के लिए परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग का अनुकरण और अनुसरण होने लगा। जब 'पदम' स्थिति के प्रति भाव उमड़ने लगे और जसका साक्षात्कार करने के लिए विभिन्न साधनों का आचरण किया जाने लगा। जैनदर्शन की रहस्यवादवा किवा रहस्यवाद भी इसी दृष्टिकोण में दृष्ट्य है।

रहस्यवाद की परिभाषा समय, परिस्थिति और चिन्तन के अनुसार परिवर्तित होती रही है। प्रायः प्रत्येक दार्शनिक ने स्वयं से अनुभवित दर्शन के अनुसार पृथक् रूप से चिन्तन और आराधन किया है और उसी साधना के बल पर अपने मूल मूल्य को प्राप्त करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से रहस्यवाद की परिभाषा भी उनके धरने ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। पारंपारिक विद्वानों ने भी रहस्यवाद की

परिभाषा पर विचार किया है। बर्ट्रान्दरसेस का कहना है कि रहस्यवाद ईश्वर को समझने का प्रयुक्त साधन है। इसे हम स्वसंवेद्य ज्ञान कह सकते हैं जो तर्क और विश्लेषण से भिन्न होता है।<sup>1</sup> फ्लीडर रहस्यवाद को आत्मा और परमात्मा के ऐक्य की प्रतीति मानते हैं।<sup>2</sup> प्रिंसिपल पेटीजन के अनुसार रहस्यवाद की प्रतीति चरम सत्य के ग्रहण करने के प्रयत्न में होती है। इसके आनन्द की उपलब्धि होती है। बुद्धि द्वारा चरम सत्य को ग्रहण करना उसका दार्शनिक पक्ष है और ईश्वर के साथ मिलन का आनन्द-उपयोग करना उसका धार्मिक पक्ष है ईश्वर एक स्थूल पदार्थ न रहकर एक अनुभव हो जाता है।<sup>3</sup> यहाँ रहस्यवाद अनुभूति के ज्ञान की उच्चतम अवस्था मानी गयी है। प्राच्युनिक भारतीय विद्वानों ने भी रहस्यवाद की परिभाषा पर मंचन किया है। रामचन्द्र शुक्ल के शब्दों में 'ज्ञान के क्षेत्र में जिसे अद्वैत-वाच कहते हैं भावना के क्षेत्र में वही रहस्यवाद कहलाता है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने रहस्यवाद की परिभाषा की है—“रहस्यवाद जीवात्मा की उस अन्तर्हित प्रवृत्ति का प्रकाशन है जिसमें वह दिव्य और धार्मिक शक्ति से अपना शांत और निश्चल सम्बन्ध जोड़ना चाहती है। यह सम्बन्ध यहाँ तक बढ़ जाता है कि दोनों में कुछ भी अन्तर नहीं रह जाता।”<sup>4</sup>

और भी अन्य प्राच्युनिक विद्वानों ने रहस्यवाद की परिभाषाएँ की हैं। उन परिभाषाओं के आधार पर रहस्यवाद की सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार कही जा सकती हैं—

1. आत्मा और परमात्मा में ऐक्य की अनुभूति।
2. तादात्म्य।
3. विरह-भावना।
4. शक्ति, ज्ञान और योग की समन्वित साधना।
5. सर्वज्ञ और उनका सत्संग।

प्रायः ये सभी विशेषताएँ वैदिक संस्कृति और साहित्य में अधिक मिलती हैं। जैन रहस्यवाद मूलतः इन विशेषताओं से कुछ थोड़ा भिन्न था। उक्त परिभाषाओं में सर्वज्ञ ईश्वर के प्रति आत्मसमर्पित हो जाता है। पर जैन धर्म ने ईश्वर का

- 
1. *Mysticism and Logic*, Page 6-17
  2. *Mysticism in Religion*, P 25
  3. *व्यक्तिकाव्य में रहस्यवाद*—डॉ. रामनारायण पाण्डेय, पृ. 6
  4. *कबीर का रहस्यवाद*, पृ. 9

स्वयं उग्र रूप में नहीं माना जो रूप वैदिक संस्कृति में प्राप्त होता है। यह इसकी दृष्टि का कर्ता-कर्ता और बर्ता नहीं है। इसी विषय के कारण काव्य काल परम्परा में जैन दर्शन को नास्तिक कह दिया गया था। नहीं आस्तिकता का अर्थ ही वा, वेद-विदिक। परन्तु वह वर्गीकरण निरानन्द आधार हीन था। जैनों को जैन और बौद्धों के प्रतिरिक्त वैदिक शास्त्रों के ही नीमांश और साधन-दर्शन को ही नास्तिक की परिभाषा की सीमा में घा जाये। प्रसन्नता का विषय है कि जैन विद्वान् 'नास्तिक' की इस परिभाषा को स्वीकार नहीं करते। नास्तिक नहीं है, जिसके मत में पुण्य और पाप का कोई महत्व न हो। जैनदर्शन इस दृष्टि के नास्तिक दर्शन है। उसमें स्वयं, भक्त, मोक्ष धरादि की व्यवस्था स्वयं के कर्म पर आधारित है। उसमें ईश्वर अथवा परमात्मा शापक के लिए शेषक का काम प्रयत्न करता है, परन्तु वह किसी पर कृपा नहीं करता, इसलिए कि वह नीचरागी है।

जैन दर्शन की उक्त विशेषता के आधार पर रहस्यवाद की आधुनिक परिभाषा को हमें परिवर्तित करना पड़ेगा। जैन किन्तु बुद्धोपयोग को बुद्धोपयोग की प्राप्ति में सहायक कारण मानता प्रबन्ध है, पर बुद्धोपयोग की प्राप्ति को उसके अर्थ प्रयत्न उसकी प्राप्ति के पथ में पारमाधिक दृष्टि से उसका कोई उपयोग नहीं। इस पृष्ठभूमि पर हम रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं।

“अध्यात्म की चरम सीमा की अनुभूति रहस्यवाद है। यह वह स्थिति है, जहाँ आत्मा विद्युत् परमात्मा बन जाता है और नीचरागी होकर निरालस रूप का पान करता है।”

रहस्यवाद की यह परिभाषा जैन साधना की दृष्टि से अनुभूति की जाती है। जैन साधना का विकास पचासमय होता रहा है। यह एक ऐतिहासिक लम्बा है। यह विकास तत्कालीन प्रचलित जैनोत्तर साधनाओं से प्रभावित भी रहा है। यह अन्तर्गत पर हम जैन रहस्यवाद के विकास को निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं—

- (1) आदिकाल—प्रारम्भ से लेकर ई. प्रथम शती तक।
- (2) मध्यकाल—प्रथम-द्वितीय शती से 7-8 वीं शती तक।
- (3) उत्तरकाल—8 वीं 9 वीं शती से आधुनिक काल तक।

1. आदिकाल—वेद और उपनिषद् में कर्म का साक्षात्कार करना मुख्य लक्ष्य माना जाता था। जैन रहस्यवाद, जैसा हम ऊपर कह चुके हैं, कर्म अथवा ईश्वर को ईश्वर के रूप में स्वीकार नहीं करता। यहाँ जैन-दर्शन अपने ही-स्वयं को परसत्त्व मानता है और उसके द्वारा निश्चित मार्ग पर चलकर शापक स्वयं ही उसी के समकक्ष बनाने का प्रयत्न करता है। 'कर्म-वैय' 'आधीन' आदि तीर्थंकरों की रहस्यवर्ती अनुभूतियों में प्रमुख है।

हम इस काल को सामान्यतः जैन धर्म के आधिभवि से लेकर प्रथम शती तक निश्चित कर सकते हैं। जैन परम्परा के अनुसार तीर्थंकर आदिनाथ ने जूमें साधना-वर्द्धि का स्वस्थ विधा। जंसी के आचार पर उत्तर कालीन तीर्थंकर श्री साधना ने जैमिनी साधना की। इस सर्वम में हमारे सामने दो प्रकार की रहस्य-साधनाएँ साहित्य में उल्लेख होती हैं — 1. पार्श्वनाथ परम्परा की रहस्य साधना, और 2. विषट्ट नतिपुत्र परम्परा की रहस्य साधना।

अन्यान पार्श्वनाथ जैन परम्परा के 23 वे तीर्थंकर कहे जाते हैं। उनसे अथवान महावीर, जिन्हे पालि साहित्य में विगण्डनातपुत्र के नाम से स्मरण किया गया है, लगभग 250 वर्ष पूर्व अवतरित हुए थे। त्रिपिटक में उनके साधनात्मक रहस्यवाद को चातुर्वर्ग्य संवर के नाम से अभिहित किया गया है। ये चार खबर इस प्रकार साहित्य, सत्य, अचौर्य और अपरिग्रह है उत्तराध्ययन आदि ग्रन्थों में भी इनका विवरण मिलता है। पार्श्वनाथ के इन व्रतों में से चतुर्थ व्रत में ब्रह्मचर्य व्रत अन्तर्भूत था। पार्श्वनाथ के परिनिर्वाण के बाद इन व्रतों के आचरण में शैथिल्य आया और फलतः समाज ब्रह्मचर्य व्रत से भ्रष्ट होने लगा। पार्श्वनाथ की इस परम्परा को जैन परम्परा के 'समवेस्थ' अथवा 'वासस्थ' कहा गया है।

विगण्डनाथपुत्र अथवा महावीर के आने पर इस आचारशैथिल्य को परखा गया। उसे दूर करने के लिए महावीर ने अपरिग्रह का विभाजन कर निम्नांकित पंच व्रतों की स्वीकार किया—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। महावीर के इन पंचव्रतों का उल्लेख जैन आगम साहित्य में तो आता ही है पर उनकी साधना के जो उल्लेख पालि साहित्य में मिलते हैं। वे ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्वपूर्ण हैं।<sup>1</sup> इस उद्धरण में यह उल्लेखनीय है कि श्री प. पदमचंद शास्त्री ने आगमों के ही आचार पर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पार्श्वनाथ के पंच महाव्रत में, चातुर्वर्ग्य नहीं (अनेकान्त, जून 1977)। इस पर अभी मयन होना शेष है।

महावीर की रहस्यवादी परम्परा अपने मूलरूप में लगभग प्रथम सदी तक चलती रही। उसमें कुछ विकास अवश्य हुआ। पर वह बहुत अधिक नहीं। यहाँ तक आते-आते आत्मा के तीन स्वरूप ही गये। अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। आत्म बहिरात्मा को छोड़कर अन्तरात्मा के माध्यम से परमात्मपद को प्राप्त करता है। हुइने शब्दों में आत्मा और परमात्मा में एकाकारता हो जाती है—

1. विशेष लेखने—डॉ. भागचन्द जैन भास्कर का ग्रन्थ 'जैनिष्म इन बुद्धिस्ट निरुद्धर, मुत्तिल अन्वय-जैन इतिहास

तिपयरो सो भव्या परमंतरबाहिरो ह वेदीयं ।

तथ्य परो भाइज्जइ अंतोबाएण चयहि बहिरव्या ॥<sup>1</sup>

जैन रहस्यवाद के इतिहास के मूल-सर्जक और प्रसंगिक भाषाये हैं कुन्धकुन्ध, चिनके ग्रंथ आत्मा के मूल स्वरूप को प्राप्त करने का रहस्य प्रस्तुत करते हैं। जैन-दर्शन में हर आत्मा में परमात्मा बनने की शक्ति विहित है इस दृष्टि से मूल आत्मा के तीन स्वरूप बतलाये हैं—अन्तरात्मा, बहिरात्मा और परमात्मा। अन्तरात्मा से परे मन के द्वारा देखा जाने वाला "मैं हूँ" इस स्वसंवेदन स्वरूप अन्तर्भाव होता है। इन्द्रियों के स्पर्शनादि द्वारा पदार्थज्ञान कराने वाला बहिरात्मा है और ज्ञानावरणाधिक द्रव्य कर्म, रागद्वेषादिक भावकर्म, शरीरादिक लौकिक रहित अज्ञानादिक गुण सहित परमात्मा होता है। अन्तरात्मा के उपाय से बहिरात्मा का परित्याग करके परमात्मा का ध्यान किया जाता है। यह परमात्मा परमार्थ स्थिति, सर्व कर्म विमुक्त, शाश्वत और सिद्ध है—

“तिपयरो सो भव्या परमंतरबाहिरो ह वेदीयं ।

तथ्य परो भाइज्जइ अंतोबाएण चयहि बहिरव्या ॥

“अक्खाणि बहिरव्या अन्तर भव्याहु अत्थसंकल्पो ।

कम्मकलंक विमुक्को परमव्या भव्याए देवो ॥<sup>2</sup>

इस दृष्टि से कुन्धकुन्धाचार्य निस्संदेह प्रथम रहस्यवादी कवि कहे जा सकते हैं। उन्होंने समयसार, प्रवचनसार, पंचास्तिकाय, नियमसार आदि ग्रन्थों में इसका सुन्दर विस्तार किया है। ये ग्रन्थ प्राचीन जैन ग्रंथ साहित्य पर आधारित रहे हैं जहाँ आध्यात्मिक चेतना को जाग्रत करने का स्वर पुञ्जित होता है। आचार्य के मूल प्राचीनतम ग्रन्थ है। यहाँ जैन धर्म मानव धर्म के रूप में अधिक उजागर हुआ है। वहाँ 'भारिएहि' शब्द से प्राचीन परम्परा का उल्लेख करते हुए समता को ही धर्म कहा है—समियाए धम्मो भारिएहि पवेविते ।

आचारांग का प्रारम्भ वस्तुतः “इय मेरोसिणो सण्ण भवइ” (इस संसार ने किन्हीं जीवों को ज्ञान नहीं होता) सूत्र से होता है इस सूत्र में आत्मा का स्वस्व तथा संसार में उसके अटकने के कारणों की ओर इंगित हुआ है। 'संजा' (बिसम) शब्द अनुभव और ज्ञान को समाहित किये हुये हैं। अनुभव मुख्यतः सोलह प्रकार के होते हैं—आहार, मय, नेधुन, परिग्रह, क्रोध, मान, धामा, लोभ, शोक, भौह, सुख, दुःख,

1. मोक्षपाहु—कुन्धकुन्धाचार्य 4

2. पार्वी के ग्रंथ अक्षरत-अनेकांत, वर्ष 30, फिरला 1, पृ. 23-27. मूल कार्य 1977

2. मोक्षपाहु

मोह विचिकित्सा, भोक घोर धर्म। ज्ञान के पांच भेद हैं—मति, व्युत्, अर्थात्, मनः पर्वत और केवलज्ञान। इस सूत्र में विचिष्ट ज्ञान के अभाव की ही बात की गई है। इसका स्पष्ट तात्पर्य यह है कि व्यक्ति संसार में मोहादिक कर्मों के कारण लटकता रहता है। जो साधक यह जान लेता है वही व्यक्ति धारण होता है। उसी को मेधावी और कुशल कहा गया है। ऐसा साधक कर्मों से बंधा नहीं रहता। वह तो धर्मभाषी बनकर विकल्प जाल से मुक्त हो जाता है। यहां अहिंसा, सत्य आदि का विशेषण मिलता है पर उसका वर्गीकरण नहीं दिखाई देता। उसी तरह कर्मों और धर्म के प्रभावों का वर्णन तो है पर उसके भेद-प्रभेदों का वर्णन दिखाई नहीं देता। कुछकुशाचार्य तक आते-आते इन धर्मों का कुछ विकास हुआ जो उनके ग्रंथों में प्रतिबिम्बित होता है।

## 2. अष्टावक्र,

कुन्दकुन्दाचार्य के बाद उनके ही पद चिन्हों पर आचार्य उमास्वाति, समन्त-मद्र, सिद्धसेन विवाकर, मुनि कातिकेय, अकलंक, विद्यानन्द, अनन्तवीर्य, प्रभाकर, मुनि योगेन्द्र आदि आचार्यों ने रहस्यवाद का अपनी सामयिक परिस्थितियों के अनु-सार विश्लेषण किया। यह दार्शनिक युग था। उमास्वाति ने इसका सूत्रपात किया था और भाण्डार्यनन्दी ने उसे चरम विकास पर पहुंचाया था। इस बीच जैन रहस्यवाद दार्शनिक सीमा में बढ़ हो गया। इसे हम जैन दार्शनिक रहस्यवाद भी कह सकते हैं। दार्शनिक सिद्धान्तों के अन्वय विकास के साथ एक उत्प्रेक्षनीय विकास यह था कि आधिकाल में जिस आत्मिक प्रत्यक्ष को प्रत्यक्ष कहा गया था और इन्द्रिय प्रत्यक्ष की परोक्ष कहा गया था, उस पर इस काल में प्रश्न-प्रतिप्रश्न खड़े हुए। उन्हें सुलझाने की दृष्टि से प्रत्यक्ष के दो भेद किये गये— सांभ्यावहारिक प्रत्यक्ष और पारमार्थिक प्रत्यक्ष। यहां निश्चय नय और व्यवहार नय की दृष्टि से विश्लेषण किया गया। साधना के स्वरूप में भी कुछ परिवर्तन हुआ।

इस काल में वस्तुतः साधना का क्षेत्र विस्तृत हुआ। आत्मा के स्वरूप की कुछ सीमाएं हुईं, उनसे आत्मकता पर अधिक जोर दिया गया, कर्मों के भेद-प्रभेद पर बंधन हुआ और ज्ञान-प्रकाश को भी अर्थात् का विषय बनाया गया। दर्शन के तर्कों पर तर्कनिष्ठ ग्रन्थों की भी रचना हुई। पर इस युग में साधना का यह रूप नहीं दिखाई देता जो आरम्भिक काल में था। साधना का तर्क के साथ उतना सामन्वय्य बैठता भी नहीं है। इसके बावजूद दर्शन के साथ साधना और भक्ति का निर्भर बंध नहीं पाया बल्कि सुधारात्मक तत्वों के साथ यह भक्ति आत्मोत्थान का रूप कहल करती गया। इस काल में दार्शनिक उच्च-पुण्य बहुत हुईं और किया काव्य की ओर प्रवृत्ति बढ़ने लगी। "अप्या सो परमप्या" अर्थात् "सबसे सुख ह

बुद्ध समाज" जैसे शक्तियों को ऐकान्तिक शक्ति की ओर खींचा जाने लगा। निरन्तर नव और नव्ययुग नव के प्राधान्यत्व की ओर ध्यान देकर किसी एक पक्ष की ओर झुकना शकित हो गया। इस संदर्भ में बहुसंख्यक स्तोत्र में स्वामी समस्तान्त का कथन स्पष्ट है वहीं के कहते हैं कि हे भगवन्! आपकी हयारी पूजा के पीछे प्रत्येक नव्य है क्योंकि आप बीतरूप हैं और न आपके भित्त से कोई प्रबोधन है, क्योंकि आपने ब्रह्मात्मा को समस्त नष्ट कर दिया है, फिर भी इन अज्ञान-शक्ति पूर्वक जो भी आपके गुणों का स्मरण करते हैं वह इसलिए कि ऐसा करने से पाप वासनाओं और मोह-राज द्वेषादि भावों से मलिन मन तत्काल प्रक्षिप्त हो जाता है।

न पूजयार्थस्त्वपि भीतरये, न निधया नाथ विनांतरे ।

तथापि ते पुष्य गुण स्मृतिर्नः पुनाति चित्तं दुरितां जनेभ्यः॥

इस युग में भुक्ति योगेन्दु का भी योगदान उल्लेखनीय है। इनका समय मद्यपि विवादास्पद है फिर भी हम उसे लगभग 8 वीं 9 वीं शताब्दी तक निश्चित कर सकते हैं। इनके दो महत्त्वपूर्ण ग्रंथ निम्नलिखित रूप से हमारे सामने हैं—(1) परमात्मसार और (2) योगसार। इन ग्रंथों में कवि ने निरंजन आदि कुछ ऐसे शब्द दिये हैं जो उत्तकालीन रहस्यवाद के अभिव्यञ्जक कहे जा सकते हैं। इन ग्रंथों में अनुभूति का प्राधान्य है इसलिए कहा गया है कि परमेश्वर से मन का मिलन हीमे पर पूजा आदि क्रियाकर्म निरर्थक हो जाते हैं, क्योंकि दोनों एकाकार होकर समरस हो जाते हैं।

मणु मिलियउ परमेसरहं, परमेसरु बिभरण्य ।

बीहि वि समरसि ह्वाह पुञ्ज बडावउ कस ॥ योगसार, 12

### 3. उत्तरकाल

उत्तरकाल में रहस्यवाद की प्राचार्यत शाला में समयानुक्रम परिपूर्ण हुआ। इस समय तक जैनसंस्कृति पर वैदिक साधकों, राजाओं और मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा घनघोर विपदाओं के बावजूद खड़े रहे। उनके बचने के लिए आचार्य जिनसेन ने मनुस्मृति के प्राचार को अनीकृत कर दिया, जिसका विरोध इसवी शताब्दी के आचार्य सोमदेव ने अपने यशस्तिसकण्डम् में स्वस्वर में ही किया। इससे लगता है, तत्कालीन समाज उस व्यवस्था को स्वीकार कर चुकी थी। जैन रहस्यवाद की यह एक और सीढ़ी थी, जिसने उसे वैदिक संस्कृति के नजदीक ला दिया।

जिनसेन और सोमदेव के बाद रहस्यवादी कवियों में भुक्ति रासिक का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। उनका 'पाहुड़ दोह' रहस्यवाद की परिभाषाओं से भरा पड़ा है। शिव-शक्ति का मिलन होवे पर अहंताभाव की स्थिति खो जाती है और मोह विनीत हो जाता है।

सिद्ध विष्णु सति या नावह सिद्ध पुष्प सति विहीनुः ।

दोहि भि जाणहि समयसु-जगु बुज्जकह मोह विलीनु ॥बही 55 ॥

मुनि रामसिंह के बाद रहस्यवादीक प्रवृत्तियों का कुछ और विकास होता गया। इस विकास का मूल कारण भक्ति का उद्वेक था। इस भक्ति का चरम उत्कर्ष महाकवि बनारसीदास जैसे हिन्दी जैन कवियों में देखा जा सकता है। नाटक समयसार, मोहविबेक—युद्ध, (बनारसीदास) आदि ग्रंथों में उन्होंने भक्ति, प्रेम और श्रद्धा के जिस समन्वित रूप को प्रस्तुत किया है वह देखते ही बनता है। 'सुमति' को पत्नी और चेतन को पति बनाकर जिस आध्यात्मिक विरह को उकेरा है, वह स्पृहणीय है। आत्मा रूपी पतिन और परमात्मा रूपी पति के वियोग का भी वर्णन अत्यन्त मार्मिक बन पड़ा है। अन्त में आत्मा को उसका पति उसके घर अन्तरात्मा में ही मिल जाता है। इस एकत्व की अनुभूति को महाकवि बनारसीदास ने इस प्रकार बखिात किया है—

पिय मोरे बट मैं पिय माहि । जल तरंग ज्यों बुबिषा नाहि ॥

पिय मो करता मैं करतूति । पिय ज्ञानी मैं ज्ञान विभूति ॥

पिय सुख सागर मैं सुख-सीव । पिय सुख-मंदिर मैं शिव-नीव ॥

पिय ब्रह्म मैं सरस्वति नाम । पिय भाषव मो कमला नाम ॥

पिय शंकर मैं देवि भवानि । पिय जिनवर मैं केवल बानि ॥<sup>1</sup>

ब्रह्म—साक्षात्कार रहस्यवादात्मक प्रवृत्तियों में अन्यतम है। जैन साधना में परमात्मा को ब्रह्म कह दिया गया है। बनारसीदास ने तादात्म्य अनुभूति के सन्दर्भ में अपने भावों को निम्न प्रकार से व्यक्त किया है—

'बालक सुदु तन चितवन गागरि कूटि,

अचरा गो फहराय सरम गं छूटि, बालम ॥१॥

पिय सुधि पावत बन मे पंसिउ पेलि,

छाड़त राज बगरिया भयउ अकेलि, बालम ॥'2॥<sup>2</sup>

रहस्य भावनात्मक इन प्रवृत्तियों के अतिरिक्त समय जैन साहित्य में, विशेषरूप से हिन्दी जैन साहित्य में और भी प्रवृत्तियाँ सहज रूप में देखी जा सकती हैं। वहाँ भावनात्मक और साधनात्मक दोनों प्रकार के रहस्यवाद उपलब्ध होते हैं। मोह-राग द्वेष आदि को दूर करने के लिए सत्गुरु और सत्संग की आवश्यकता तथा मुक्ति प्राप्त करने के लिए सम्यक् दर्शन-ज्ञान और चरित्र की समन्वित साधना की अभिव्यक्ति हिन्दी जैन रहस्यवादी कवियों की लेखनी से बड़ी ही सुन्दर, सरल

1. बनारसीबिलास, पृ. 161.

2. बही, पृ. 228.



भाषा में प्रस्तुत हुई है। इस युक्ति से सफलकृति का सारावना प्रतिक्रमण, जिनवास का वेतनवीर, जयतराम का भावमविद्या, धवावीरस का वेतन युक्ति सम्बन्ध भगवतीवास का योवीरस, रूपचंद का परमार्थवीर धानकराम का धानविवास, धानन्दधन का धान दहन बहोसरी, मूबरवास का मूबरविवास धारि ग्रंथ विवेक उल्लेखनीय हैं।

धार्मिक साधना की धर्म परिवर्तन रहस्य की उपलब्धि है। इस उपलब्धि के मार्ग में साधक एक मत नहीं। इसकी प्राप्ति में साधकों ने कुल-कुल भयवा कुशल-मकुशल कर्मों का विवेक खो दिया। बौद्ध-धर्म के सहजमान, संनयन, तंत्रयान वज्रयान आदि इसी साधना के बीभत्स रूप हैं। वैदिक साधनाओं में भी इस रूप के दर्शन स्पष्ट दिखाई देते हैं। यद्यपि जैन धर्म भी इससे अछूता नहीं रहा परन्तु यह सौभाग्य की बात है कि उसमें अज्ञा और भक्ति का अतिरेक तो भयंकर हुआ, विभिन्न धर्मों और सिद्धियों का आविष्कार भी हुआ किन्तु उन धर्मों और सिद्धियों की परिवर्तन वैदिक भयवा बौद्ध संस्कृतियों में प्राप्त उस बीभत्स रूप जैसी नहीं हुई। यही कारण है कि जैन संस्कृति के मूल स्वरूप अक्षुण्ण तो नहीं रहा पर गहिर स्थिति में भी नहीं पहुँचा।

जैन रहस्य भावना के उक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि जैन रहस्यवादी साधना का विकास उत्तरोत्तर होता गया है, पर वह विकास अपनी मूल साधना के स्वरूप से उतना दूर नहीं हुआ जितना बौद्ध साधना का स्वरूप अपने मूल स्वरूप से उत्तरकाल में दूर हो गया। यही कारण है कि जैन रहस्यवाद ने जीनेतर साधनाओं को पर्याप्त रूप से प्रबल स्वरूप में प्रभावित किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध को घाठ परिवर्तों में विभक्त किया गया है। प्रथम परिवर्त में मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठ भूमि का अवलोकन है। सामान्यतः भारतीय इतिहास का मध्यकाल सप्तम शती से माना जाता है परन्तु जहाँ तक हिन्दी साहित्य के मध्य काल की बात है उसका काल कब से कब तक माना जाये, यह एक विचारणीय प्रश्न है। हमने इस काल की सीमा का निर्धारण वि. सं. 1400 से वि. सं. 1900 तक स्थापित किया है। वि. सं. 1400 के बाद कवियों को प्रेरित करने वाले सांस्कृतिक आधार में वैभिन्य दिखाई पड़ता है। फलस्वरूप जनता की चित्तवृत्ति और रचि में परिवर्तन होना स्वाभाविक है। परिस्थितियों के परिणाम स्वरूप जनता की रचि जीवन से उदासीन और भगवत् भक्ति में लीन होकर ध्यात्म कल्याण करने की ओर उन्मुख थी इसलिए कविगण इस विवेक काल में भक्ति और सम्भात्म सम्बन्धी रचनायें करते दिखाई देते हैं। जैन कवियों की इस प्रकार की रचनायें लगभग वि. सं. 1900 तक मिलती हैं। अतः इस सम्पूर्ण काल को मध्यकाल नाम देना ही अनुसृत प्रतीत होता है। इसके पश्चात् हमने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की विवेक

कपरेखा प्रस्तुत की है। जिसके अन्तर्गत राजनीतिक धार्मिक और सामाजिक मुद्दों को स्पष्ट किया है। इसी सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में हिन्दी जैन साहित्य का निर्माण हुआ है।

द्वितीय परिवर्त में हिन्दी जैन साहित्य के आदिकाल की बर्चा की गई है। इस संदर्भ में हमने अपभ्रंश भाषा और साहित्य को भी प्रवृत्तियों की दृष्टि से समाहित किया है। यह काल दो भागों में विभक्त किया है—साहित्यिक अपभ्रंश और अपभ्रंश परबर्ती लोक भाषा या प्रारम्भिक हिन्दी रचनाएँ। प्रथम वर्ग के स्वयंबूदेव, पुष्पवंत आदि कवि हैं और द्वितीय वर्ग में शालिभद्र सूरि जिन-पद्मसूरि आदि विद्वान् उल्लेखनीय हैं। भाषागत विशेषताओं का भी संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया है।

अपभ्रंश भाषा और साहित्य ने हिन्दी के आदिकाल और मध्यकालको बहुत प्रभावित किया है। उनकी सहज-सरल भाषा, स्वभावविक बर्णन और सांस्कृतिक धरातल पर व्याख्यायित दार्शनिक सिद्धांतों ने हिन्दी जैन साहित्य की समग्र कृतियों पर अमिट छाप छोड़ी है। भाषिक परिवर्तन भी इन ग्रन्थों में सहजता पूर्वक देखा जा सकता है। हिन्दी के विकास की यह प्रायः कड़ी है। इसलिए अपभ्रंश की कतिपय मुख्य विशेषताओं की ओर दृष्टिपात करना आवश्यक हो जाता है।

तृतीय परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियों पर विचार किया गया है। इतिहासकारों ने हिन्दी साहित्य के मध्यकाल को पूर्व-मध्यकाल (भक्तिकाल) और उत्तरमध्यकाल (रीतिकाल) के रूप में वर्गीकृत करने का प्रयत्न किया है। चूंकि भक्तिकाल में निरुण और सगुण विचारधारार्यों समानान्तर रूप से प्रवाहित होती रही हैं तथा रीतिकाल में भी भक्ति सम्बन्धी रचनायें उपलब्ध होती हैं। अतः हमने इसका धारागत विभाजन न करके काव्य प्रवृत्त्यात्मक वर्गीकरण करना अधिक सार्थक माना। जैन साहित्य का उपयुक्त विभाजन और भी संभव नहीं क्योंकि वहाँ भक्ति से सम्बद्ध अनेक धारायें मध्यकाल के प्रारम्भ से लेकर अन्त तक निर्बाध रूप से प्रवाहित होती रही हैं। इतना ही नहीं, भक्ति का काव्य स्रोत जैन आचार्यों और कवियों की लेखनी से हिन्दी के आदिकाल में भी प्रवाहित हुआ है। अतः हिन्दी के मध्ययुगीन जैन काव्यों का वर्गीकरण काव्यात्मक न करके प्रवृत्त्यात्मक करना अधिक उपयुक्त समझा। इस वर्गीकरण में प्रधान और गौण दोनों प्रकार की प्रवृत्तियों का धाकलन हो जाता है।

जैन कवियों और आचार्यों ने मध्यकाल की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में बैठकर अनेक साहित्यिक विचारों को प्रस्तुत किया है। उनकी इस अभिव्यक्ति को हमने निम्नलिखित काव्य रूपों में वर्गीकृत किया है—

1. प्रबन्ध काव्य—सङ्काव्य, सङ्ककाव्य, पौराणिक काव्य, कथा काव्य, बर्तित काव्य, राजा साहित्य आदि ।
2. कवच काव्य—हीरो, विवाहलो, चेतनकर्म चरित आदि
3. सव्याख्य और अतिमूलक काव्य—स्थवन, पुषा, भीषाई, बयमासा, बोधर, फांग, धूनही, बैलि, सैव्यतमक, बारहपासा आदि ।
4. नीति काव्य—विभिन्न प्रसनों और फुटकर विषयों पर निर्मित गीत
5. प्रकीर्णक काव्य—लाक्षणिक, कौश, गुर्वावली, आत्मकथा आदि ।

उपयुक्त प्रहसियों को समीक्षात्मक दृष्टिकोण से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी प्रहसियाँ मूलतः आध्यात्मिक उद्देश्य को लेकर प्रस्तुत हुई हैं। इन रचनाओं में आध्यात्मिक उद्देश्य प्रधान है जिससे कवि की भाषा आलांकारिक न होकर स्वाभाविक और सात्विक दिखती है। उसका मूल उद्देश्य रहस्यात्मक अनुभव और भक्ति रहा है।

चतुर्थ परिवर्त रहस्यभावना के विश्लेषण से सम्बद्ध है। इसमें हमने रहस्य भावना और रहस्यवाद का अन्तर स्पष्ट करते हुए रहस्यवाद की विभिन्न परिभाषाओं का समीक्षण किया है और उसकी परिभाषा को एकांगिता के संकीर्ण दायरे से हटाकर सर्वांगीण बनाने का प्रयत्न किया है। हमारी रहस्यवाद की परिभाषा इस प्रकार है—“रहस्यभावना एक ऐसा आध्यात्मिक साधन है जिसके माध्यम से साधक स्वाधु-भूति पूर्वक आत्म तत्व से परम तत्व में लीन हो जाता है। यही रहस्यभावना अवि-व्यक्ति के क्षेत्र में आकर रहस्यवाद कही जा सकती है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि आध्यात्म की चरमोत्कर्ष अवस्था की अविव्यक्ति का नाम रहस्यवाद है। यही हमने जैन रहस्य साधकों की प्राचीन परम्परा को प्रस्तुत करते हुए रहस्यवाद और आध्यात्मवाद के विभिन्न आयामों पर भी विचार किया है। इसी सन्दर्भ में जैन और जैनतर रहस्यभावना में निहित अन्तर को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है।

यहाँ यह भी उल्लेख्य है कि जैन रहस्य साधना में आत्मा की तीन अवस्थाएँ मानी गयी हैं—बहिरात्मा, अन्तरात्मा बहिरात्मा में जीव जन्म-मरण के कारण स्वयं भौतिक सुख के चक्कर में भटकता रहता है। त्रिनिवास्वना (अन्तर्गत्या) में पहुंचने पर संसार के कारणों पर आम्भीरता पूर्वक चिन्तन करने से आत्मा अन्तरात्मा की पीर उन्मुक्त हो जाता है। तदनन्त बहू भौतिक सुखों को आश्रित और त्याग्य संन मने लगता है। तृतीयावस्था (परमात्मा, ब्रह्मावास्तकार) की प्राप्ति के लिए साधना एक और आवश्यक प्रयत्न करता है। यही तीनों अवस्थाओं पर जाने के तीन अवस्थाओं में आत्म-संकाश आता है।

पंचम परिवर्त में रहस्यभावना के साधक तत्वों की स्पष्ट किया गया है। रहस्यसाधना का चरमोत्कर्ष ब्रह्मसाक्षात्कार है। साहित्य में इसको आत्म-साक्षात्कार परमात्मपद, परम सत्य, अजर-अमर पद, परमार्थ प्राप्ति आदि नामों से उल्लिखित किया गया है। अतः हमने इस अध्याय में आत्म चिन्तन को रहस्यसाधना का केन्द्र किन्तु माना है। आत्मा ही साधना के माध्यम से स्वानुभूति पूर्वक अपने मूल रूप परमात्मा का साक्षात्कार करता है। इस स्थिति तक पहुँचने के लिए साधक को एक लम्बी यात्रा करनी पड़ती है। हमने यहाँ रहस्यसाधना के मार्ग के साधक तत्वों को जैन सिद्धांतों के सन्दर्भ में प्रस्तुत किया है। उनमें सांसारिक विषय-वासना शरीर से ममत्व, कर्मजाल, माया-मोह, मिथ्यात्व, बाह्याङ्ग्य और मन की चंचलता पर विचार किया है। इन कारणों से साधक बहिरात्म अवस्था में ही पड़ा रहता है।

षष्ठ परिवर्त रहस्यभावना के साधक तत्वों का विश्लेषण करता है। इस परिवर्त में सद्गुरु की प्रेरणा, नरभव दुर्लभता, आत्म-संबोधन, आत्मचिन्तन, चित्त शुद्धि, भेदविज्ञान और रत्नत्रय जैसे रहस्यभावना के साधक तत्वों पर मध्यकालीन हिन्दी जैन काव्य के आश्रय पर विचार किया गया है। यहाँ तक आते-आते साधक अन्तरात्मा की अवस्था को प्राप्त कर लेता है।

सप्तम परिवर्त रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों को प्रस्तुत करता है। इस परिवर्त में अन्तरात्मावस्था प्राप्त करने के बाद तथा परमात्मावस्था प्राप्त करने के पूर्व उत्पन्न होने वाले स्वाभाविक भावों की अभिव्यक्ति को ही रहस्यभावनात्मक प्रवृत्तियों का नाम दिया गया है। आत्मा की तृतीयावस्था प्राप्त करने के लिए साधक दो प्रकार के मार्गों का अवलम्बन लेता है—साधनात्मक और भावनात्मक। इन प्रकारों के अन्तर्गत हमने क्रमशः सहज साधना, योग साधना, समरसता प्रपत्ति—भक्ति, आध्यात्मिक प्रेम, आध्यात्मिक होली, अनिर्वचनीयता आदि से सम्बन्ध भावों और विचारों को चित्रित किया है।

अष्टम परिवर्त में मध्यकालीन हिन्दी जैन एवं जैनेतर रहस्यवादी कवियों का संक्षिप्त तुलनात्मक अध्ययन किया गया है। इस सन्दर्भ में मध्यकालीन सगुण-निर्गुण और सूफी रहस्यवाद की जैन रहस्यभावनाके साथ तुलना भी की गई है। इस सन्दर्भ में स्वानुभूति, आत्मा और ब्रह्म, सद्गुरु, माया, आत्मा-ब्रह्म का सम्बन्ध, विरहा बुद्धि, योग साधना, भक्ति, अनिर्वचनीयता आदि विषयों पर सांगोपांग रूप से विचार किया गया है।

प्रस्तुत ग्रन्थ में मध्यकाल की सांस्कृतिक वृष्टि भूमि को हमने बहुत संक्षेप में ही उपस्थित किया है और काल विभाजन के विवाद एवं नामकरण में भी हम नहीं उलझे। विद्वान् और पुनरुक्ति के भय से हमने आदि कालीन और अन्य

कालीन हिन्दी जैन साहित्य को उच्चसाामान्य प्रवृत्तियों में ही विभाजित करना उचित समझा। यह मात्र सूची जैसी अवश्य दिखाई देती है पर उसका अर्थना महत्व है। यहाँ हमारा उद्देश्य हिन्दी साहित्य का इतिहास लिखने वाले विद्वानों को प्रत्येक प्रवृत्तिगत महत्वपूर्वी कार्यों की गणना से जागृत करना मात्र रहा है जिनका अभी तक हिन्दी साहित्य के इतिहास में किन्हीं कारणों वया उल्लेख नहीं हो पाया। उन प्रवृत्तियों के विस्तार में हम नहीं जा सके। जाना सम्भव भी नहीं था क्योंकि उसकी एक-एक प्रवृत्ति पृथक् पृथक् शोध प्रबन्ध की माँग करती प्रतीत होती है। तुलनात्मक अध्ययन को भी हमने संक्षिप्त किया है अन्वया वह भी एक अलग प्रबन्ध-सा हो जाता। प्रस्तुत अध्ययन के बाद विश्वास है, रहस्यवाद के क्षेत्र में एक नया मानदण्ड प्रस्थापित हो सकेगा।

प्रायः हर जैन मंदिर में हस्तलिखित ग्रंथों का भण्डार है। परन्तु वे बड़ी बेरहमी से अश्वस्तित्त पड़े हुए हैं। शास्त्रियों की बात यह है कि यदि शोधक उन्हें देखना चाहे तो उसे पूरी सुविधायें नहीं मिल पाती। हमने अपने अध्ययन के लिए जिन-जिन शास्त्र भंडारों को देखा, सरलता कहीं नहीं हुई। जो भी अनुभव हुए, उनसे यह अवश्य कहा जा सकता है कि शोधक के लिए इस क्षेत्र में कार्य करने के लिए प्रभूत सामग्री है पर उसे साहसी और सहिष्णु होना आवश्यक है।

अन्त में यहाँ पर लिखना चाहूँगी कि पृ. 243 (285) पर जो वह लिखा गया है कि न कोई निरंजन सम्प्रदाय था और न कोई हरीदास नाम का उसका संस्थापक ही था, गलत हो गया है। तथ्य यह है कि हरीदास (सं. 1512-95) इसके प्रवर्तक थे जिनका मुख्य कार्य क्षेत्र बीडवाता (नागीर) था; ऐसा डॉ० भास्कर ने लिखा है।

रहस्य भावना प्राध्यात्मिक साधना के क्षेत्र में वस्तुतः एक ऐसा असीमित तत्त्व है जिसमें संसार से लेकर संसार से विनिर्मुक्त होने की स्थिति तक साधक अनुचिन्तन और अनुप्रेक्षण करता रहता है। हिन्दी साहित्य के जायसी, कबीर, सूर, तुलसी, मीरा आदि जैसे रहस्यवादी जैनेतर साधक कवियों में भी यह तत्त्व इसी रूप में प्रतिबिम्बित होता है। उनके तथा जैन कवियों के विचारों में साम्य-वैषम्य लोचने का प्रयत्न हमने इस शोध प्रबन्ध में किया है।

मध्य कालीन हिन्दी जैन संतों में प्रपत्ति भावना के सभी अंग उपलब्ध होते हैं। धर्तिरिक्त भवण, कीर्तन, चितवन, सेवन, बन्दन, ध्यान, लघुता, समता, एकता, वास्यजात्र, सख्यभाष आदि नवधा भक्ति तत्त्व भी मिलते हैं इन तत्त्वों की एक प्राचीन जन्मी परम्परा है। वेदों, स्मृतिग्रंथों, सूत्रों, भागवतों और पिटकों में इनका पर्याप्त विवेचन किया गया है। मध्यकालीन हिन्दी जैन और जैनेतर काव्य उनसे निःसंदेह प्रभावित दिखाई देते हैं। इन तत्त्वों में नामस्मरण विशेष उल्लेखनीय है। संसार-संसार के पार होने के लिए साधकों के इसका विशेष आशय लिखा है। सुफियों का मार्फत और वैष्णवों का आत्मविशेषन दोनों एक ही मार्ग पर चलते हैं। शब्दों कीर्तन आदि प्रकार भी सुफियों के शरीरगत, तरीकत, हकीकत और मार्फत आदि जैसे तत्त्वों में

भावान्तरित हुए हैं। सूफियों, वैष्णवों और जैनों ने आत्मबोधार्थ ही कवित्व स्वरूप पर स्वीकारा है। सूफी साधना में हसी की जिक्र और फिर संज्ञा से अभिव्यक्ति किया गया है। पादसेवन, बन्दन और प्रार्थना को भी इन कवियों ने अपने आध्यात्मिक जीवन में सम्मिलित किया है। उपलम्ब, परमात्मप, लज्जता, समता और एकता जैसे तत्त्व आध्यात्मिक में यथावत् उपलम्ब होते हैं। इन कवियों के पदों को तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक दूसरे से किस सीमा तक प्रभावित रहे हैं।

योग साधना आध्यात्मिक रहस्य की उपलब्धि के लिए एक साधक श्रम है। कृष्टि के प्रायः काल से लेकर आज तक यह समान रूप से व्यवहृत होता आ रहा है। जयसी, कबीर, नानक, मीरा प्रायः संतों ने, सरहृपा, कन्हूपा प्रायः सहाज-जानी सिद्धोंने, कौलमार्गी और नाथ आचार्यों ने, चमत्कारवादी सहजिया सम्प्रदायी महात्माओं ने योग साधना का भरपूर उपयोग किया है। जैन धर्म ने भी एक लम्बी परम्परा के साथ सूफी और संतों के समान मन को केन्द्र में रखकर साधना के क्षेत्र को विस्तृत किया है। उनमें वह विशेषता रही है कि साधारणतः उन्होंने अपने ध्याको हठ योग से दूर रखा है और साध्य की प्राप्ति में योग का पूरा उपयोग किया है। ब्रह्मत्व या निरंजन की अनुभूति के बाद साधक समरसता के रंग में रंग जाता है। रहस्य भावना का यह अन्यतम उद्देश्य है।

आध्यात्मिक कवि रहस्य की प्राप्ति के लिए स्वानुभूति एक अपरिहार्य तत्व है। इसे जैन-जैनतर साधकों ने समान रूप से स्वीकार किया है। आध्यात्मिक विवाह और होली जैसे तत्वों को भी कवियों ने आत्मसात किया है। रहस्यवाद की अभिव्यक्ति के लिए संकेतात्मक, प्रतीकात्मक, व्यञ्जनापरक एवं आलंकारिक शैलियों का उपयोग करना पड़ता है। इन शैलियों में अन्वोक्ति शैली, समासोक्ति शैली, संवृत्ति वक्रतामूलक शैली, रूपक शैली, प्रतीक शैली विशेष महत्वपूर्ण हैं।

जैन साधकों ने निर्गुण और सगुण दोनों प्रकार की शक्तियों का अवलम्बन लिया है। परन्तु उन्होंने इस क्षेत्र में अपनी पहिचान बनाये रखी है। सूफी कवि जैन साधना से बहुत कुछ प्रभावित रहे हैं। कबीर प्रायः निर्गुणी संतों ने भी जैन विचारधारा को आत्मसात किया है। जैनों का निकल-सकल परमात्मा निर्गुण और सगुण का ही रूप है। यह प्रबन्ध है कि मध्यकालीन जैनतर कवियों के समान हिन्दी जैन कवियों के बीच निर्गुण धरणा सगुण शक्ति शास्त्रा की सीमा-रेखा नहीं खिंची। वे दोनों अवस्थाओं के पुजारी रहे हैं क्योंकि वे दोनों अवस्थाएँ एक ही आध्यात्मिक की धानी गई हैं। उन्हें ही जैन पारिभाषिक शब्दों में सिद्ध और अर्हन्त कहा गया है। इस परिदृश्य में जब हम आधुनिकता में आध्यात्मिक रहस्य भावना की देखते हैं तो उन्हें और जैन रहस्य भावना में साम्य रूप और वैभवं अधिक दिखाई देता है। इन सभी तत्वों पर प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में सहीजातक अवलम्बन प्रस्तुत किया गया है।

## परिवर्त 5 नारी वर्ग चेतना

जैनदर्शन समतावादी, पुरुषार्थवादी, धातमवादी और मोक्षवादी चिन्तन के साथ सामाजिक और दार्शनिक क्षेत्र में उत्तरा और उच्चरे व्यक्ति और व्यक्ति की तात्कालिक तथा शाश्वत समस्याओं पर अपने सैद्धान्तिक सूत्र प्रस्तुत किये। इसी सूत्र व्यक्ति के विकास के विभिन्न सोपान बनकर प्रसर बन गये। परन्तु नारी के सम्बन्ध में इन सूत्रों का व्यावहारिक उपयोग न हो सका।

जैनदर्शन को वैदिक काल की पृष्ठभूमि प्राप्त नहीं। वैदिक परिवार की बननी है वह शाश्वत सूत्र नारी की स्थिति के साथ प्रारम्भ के ही पुत्र हुआ है। अथ से लेकर इति तक किसी भी साहित्य में पुत्र की अनेकान पुत्री की प्राथमिक प्राप्ति नहीं दिया गया बल्कि उसे बंधन-कारक तथा प्रारम्भिक प्राप्ति के रूप में देखा के पीछे उसकी प्राकृतिक तथा शारीरिक दुर्बलतायें प्रकट रही हैं पर उसकी सामाजिक स्थिति को सुदृढ़ करने का अवसर प्रदान नहीं किया जा सका।

वैदिककाल में पुत्र प्राप्ति की तीव्र इच्छा तथा पुत्री के कष्ट पर शोक और शिंता व्यक्त की जाती रही है। इसका मूल कारण यह था कि वैदिक परिवारों के विरुद्ध से मुक्त होने के लिए पुत्र को ही उपयोगी सम्पत्ति और कर्मा के निष्पाद होने पर पुत्री का परिवार बंधन जाने से वह इस कर्म के मोक्ष नहीं रह जाती। व्यक्ति वर्ग से अधिक भवभित्त रहता है इसलिए परिवारों के अर्थ वर्ग के निष्पाद की स्थापना कर पूर्ण कथा होता है। पुत्री पुत्रिक सम्पत्ति पर बनती है इसलिए उसके बाला-पिता की स्वार्थ विधि नहीं हो जाती। अर्थ वर्ग की उत्पत्ति से ही नारी मुक्त करण रहता है।

वर्तमान के क्षेत्र में संस्कृत प्रायः नारी की शिंता ही की गई है। नारी वर्ग के उनके अस्वास्थ्य का विशेषज्ञ ही इसी कारण पर हुआ है। अस्वास्थ्य कारणों से

लिखा है कि इसके समान मनुष्य का दूसरा शत्रु नहीं है इसलिए इसे नारी कहते हैं ।<sup>1</sup> इसी तरह पुरुष का बध करने वाली होने से बधू, दोषों की उत्पत्तिका होने से स्त्री, प्रमाद उत्पन्न करने वाली होने से प्रमदा तथा पुरुषों पर दोषारोपण करने वाली होने से महिला कहा गया है । इन अर्थों के पीछे चिन्तकों की यह भूमिका रही है कि नारी के कारण पुरुष वर्ग अपने कौशलों की ओर झुकपित होता है इसलिए वह हेय है, निन्दनीय है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इस पर विचार किया जाये तो यही कहा जा सकता है कि अपराधी बनना अपराध किमी दूरीसे पर थोपकर स्वयं मुक्त अथवा निर्दोष होना चाहता है ।

नारी को दुर्बस्था का एक और कारण रहा है कि उत्तर वैदिक काल में उसके धार्मिक अधिकार पुरोहितों के पास पहुंच गये । फलतः उसकी धार्मिक शिक्षा समाप्त-प्राय ही गई और वह अपनयन संस्कार से वंचित होकर शूद्रवत् व्यवहार पाने लगी । इस तरह वह बुद्ध और महावीर के पूर्व काल में शिक्षा और धर्म के क्षेत्र से हटकर समाज में परतंत्रता का जीवन बिताने के लिए बाध्य हो गई ।

अमरा संस्कृति में नारी के इस रूप ने करबट बदली और उसने महावीर के समतावादी दर्शन के आलोक में सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में पुनः अपना अस्तित्व प्राप्त किया । नायाधम्मकहाओ से पता चलना है कि संतान-प्राप्ति की कामना करते समय पुत्र अथवा पुत्री को समान रूप से देखा जाता था ।<sup>2</sup> इतना ही नहीं, विवाह करने के लिए वर पक्ष बधू पक्ष को शुल्क भी दिया करता था ।<sup>3</sup> यह उल्लेख पुत्री के महत्व को अधिक स्पष्ट कर देता है ।

जैन संस्कृति लैंगिक और धार्मिक समता की पक्षधर है उसमें चाहे नारी हो या पुरुष, प्राणिसात्र अपने स्वयं के पुरुषार्थ से वीतरागी होकर मोक्ष प्राप्त कर सकता है । परन्तु इस सन्धर्म में जैन संस्कृति के दिग्म्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदाय में अन्तर्भेद है ।

श्वेताम्बर सम्प्रदाय के अनुसार स्त्री भी मुक्त हो सकती है क्योंकि पुरुष के समान उसमें भी वे सभी मुख्य विद्यमान हैं जिनकी मोक्ष प्राप्ति में आवश्यकता होती है । पर दिग्म्बर परम्परा इसे स्वीकार नहीं करती । वह अपने पक्ष में विद्वान्-विद्वान्त तर्क प्रस्तुत करती है—

1. तारिसओ एण्थि अरी परस्स अण्णोत्ति उण्णवे नारी ।
2. क्हं एं पुंसं वा त्तरयं वा चारियं वा पयाएज्जासि, नाया 1. 2, 40
3. तो भणं, देवाणुप्पिया! किं वदासि सुक्कं? नाया. 1. 14: 110



1. मोक्ष के कारणसमुत्पन्न ज्ञान-वर्जन चारित्र्य की उसमें प्रकर्मता नहीं होती। बिना प्रकार उसमें पाप की प्रकर्मता न होने से वह संशय नरक नहीं जाती उसी तरह पुण्य प्रवृत्तियों की प्रकर्मता उसमें नहीं होती कि वह मोक्ष प्राप्त कर सके। पुण्य में पुण्य और पाप दोनों की प्रकर्मता होती है इसलिए उसे मुक्ति तब तक प्राप्त नरक गमन का विधान बताया गया है।

2. स्त्री-क्योंकि संवेग संकमी है इसलिए उसका आचरण अज्ञान संकमी के समान होता है। संवेग का प्रभाव मोक्ष की प्राप्ति में बाधक होता ही है। इसलिए साधुओं के द्वारा उसे प्रवेकमल मार्तण्ड में प्राचीन काल की एक भाषा का उल्लेख है जिसमें कहा गया है कि स्त्री कर्म की दीक्षित आश्रितों की आज के ही दीक्षित साधु के द्वारा भी बंदनीय नहीं है।

वरिससय दिक्कियाए धरुजाए धरुज दिक्कियो साहु ।  
अभिगमरा वंदरागामंसरा धिराएण ओ पुण्णे ॥<sup>1</sup>

3. वस्त्रादि बाह्य परिग्रह तथा अनुसारादि आभ्यांतर परिग्रह भी स्त्रियों में अधिक रहता है। यदि उन्हें मोक्ष अधिकारिणी माना जाय तो यह स्त्रियों को भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है, यह बात माननी होती जो समुचित नहीं कही जा सकती। 'जीतकल्प' में आई गाथा से भी यही प्रकट होता है।<sup>2</sup> वस्त्र ग्रहण करने में प्राक्षिणों का अपघात तथा संभ्रूयन जीवों की उत्पत्ति होती है। इस लक्ष्मण में वह प्रश्न कहा किया जा सकता है कि विहार करने में भी यह होता है। यह प्रश्न मुक्ति संकट नहीं क्योंकि प्रयत्न पूर्वक संयम पूर्वक चलने पर भी यदि प्राणिकता होता है तो वह विहार नहीं, अहिंसा है। बाह्याभ्यांतर परिग्रह का त्याग ही वास्तविक संवेग है। यह वस्त्र धारण, सीढन, प्रक्षालन, शोषण, निक्षेप, प्रादान और हरण आदि कार्यों से मनः संशोभकारी है मतः उसे संयम का विधातक कारण कैसे न माना जाय ?<sup>3</sup>

वही विचार-श्रुतला उत्तरकालीन विमन्वर श्रुतियों में प्रतिबिम्बित हुई है। सील पाहुड (गाथा 29) में नारी को शब्द नर्भम, नौ शक्ति पशुओं के शयनका रक्षा मया है। और इन सभी को मुक्ति से कौसी दूर किया गया है। प्रयत्नसार की कुछ प्रवेक पाषाणों में तो इसे और स्पष्ट कर दिया गया है कि नारी संवेग ही संवेग-वर्धन से मुक्त हो, आत्मा का अध्ययन किया हो, तपश्चरण रूप चारित्र्य के मुक्त हो पर वह कर्मों की संपूर्ण निर्भर नहीं कर सकती। इन उत्तरकालीन गाथाओं

1. प्रवेकमल मार्तण्ड, पृ. 330
2. 'अने कश्चिद्दिक्क सेवकाहररायविद्विदिक्कम्म'। जीतकल्प, अष्टम, 1972
3. प्रवेक कर्मनमार्तण्ड, पृ. 331-332 पर उद्धृत श्लोक

को आचार्य कुम्भकुन्द जैसे महनीय आध्यात्मिक दार्शनिक सन्त के साथ जोड़ देने का तात्पर्य यह है कि यह विचार मूल जैन परम्परा से सम्बद्ध न होकर उत्तरकालीन कुछ आचार्यों की देन है।

जो भी हो, यह परम्परा अब दिगम्बर परम्परा के रूप में स्थिर हो चुकी है। उसके अनुसार कर्मों की सम्पूर्णा निर्जरा करने के लिए नारी को अवाप्तर में पुरुष वैद ग्रहण करना अनिवार्य है। अतः वे तद्भव भोगगामी न होकर अवाप्तर में भोगगामी होती हैं। इसका कारण यह बताया है कि नारी बचस स्वभावी तथा सखिल होती है तथा उसके प्रथम संहनन नहीं होता। दिगम्बर सम्प्रदाय के अनुसार स्त्री तीर्थंकर नहीं हो सकती और सम्पगवृष्टि जीव स्त्रियों में उत्पन्न नहीं हो सकते। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि बौद्ध संस्कृति भी इस सन्दर्भ में दिगम्बर परम्परा के अधिक समीप है। आनन्द के आग्रह से भगवान बुद्ध ने महिलाओं को संघ में प्रवेश अवश्य दिया पर उन्हें मुक्ति का विधान नहीं किया जा सका।

श्वेताम्बर परम्परा वीतरागता की इस उच्च स्थिति को स्वीकार नहीं करती। उसके अनुसार वीतरागता अन्तरंग का चिह्न है, बहिरंग का नहीं। अतः उसकी परमोच्च अवस्था प्राप्त करने के लिए कोई लिंग प्रादि का बन्धन नहीं माना जा सकता। अतः नारी भी मुक्ति प्राप्त कर सकती है। ललितविस्तारा में सिद्ध के पन्द्रह प्रकारों में स्त्रीलिंग सिद्ध, नपुंसकलिंग सिद्ध, गिर्हिलिंगसिद्ध जैसे प्रकार भी दिये गये हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यापनीय संघ<sup>1</sup> (जो त्रि. सं 205 में कल्याण नामकनगर में श्रीकलश नामक श्वेताम्बर साधु द्वारा स्थापित किया गया था) के अनुसार भी स्त्री मुक्ति की अधिकारणी है। यहाँ इस संघ के विषय में अधिक कहना प्रविषेय नहीं। पर इतन कथ्य अवश्य है कि इसकी कुछ मान्यतायें श्वेताम्बर परम्परा पर आधारित थीं और नग्नत्व प्रादि कुछ मान्यतायें विजम्बर परम्परा का अनुसरण करती थीं। ललित विस्तारा में इसी की मान्यता का उद्धरण देकर श्वेताम्बर परंपरा को प्रस्तुत किया गया है। तदनुसार नारी को मुक्ति प्राप्त होना असम्भव नहीं कहा जा सकता।

यह परम्परा उत्कृष्ट सुख ध्यान से उत्कृष्ट रीति ध्यान की कोई व्याप्ति नहीं मानती। उसके अनुसार जहाँ मोक्ष प्रापक सुख ध्यान की योग्यता है वहाँ सप्तम् नरक

1. वर्धनसार

प्रायः रीति ध्यान की योग्यता का कोई नियम नहीं है। अतः स्त्रियां सत्यम् नरक के योग्य न होने पर भी सुखमय स्थान के योग्य हो सकती हैं।

‘मधोक्तं यापनीयं तन्ने’ एतेषु इत्थी भोजीषु (प्र. धर्मीषु) एषामपि अन्वयः, एषा यावत् संसृष्टविरोहिणी (प्र. विराहिणी), एषा अमाणुसा, एषा अस्वार्थि उप्पत्ति, एषा अचंचलजातया, एषा अहङ्कारमर्हि, एषा ए उक्तसन्तमोहा, एषा ए सुदुःखाचारा, एषा अनुद्वन्दी, एषा अकलामबन्धिया, एषा अपुष्पकरणा विरोहिणी, एषा एतदुत्सवस्य रहिया, एषा आभोग्या खडीए, एषा अकल्याणभाययां ति कहं न उत्तमवन्मस्यद्विय ति।<sup>1</sup> अर्थात् जैसे कि आपनीय शास्त्र में कहा गया है कि “स्त्री कोई अशुभ तो है नहीं, फिर वह उत्तम धर्म मोक्ष कारक चारित्र्य धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती? वंसी ही वह अमृष्य भी नहीं है, दर्शत विरोधी नहीं है, अमनुष्य नहीं है, अस्वार्थ देशोत्पन्न नहीं है, असंख्य वर्ष की आयु वाली नहीं है, अति क्रूर मतिवाली नहीं है, मोह भ्रंशत ही न सके ऐसी नहीं, वह सुदुःखाचार से मूल्य नहीं है, अनुद्वन्दीर वाली नहीं है, परलोक हितकर प्रवृत्ति से रहित नहीं है, अपूर्वकरणा की विरोधी नहीं है, नौ गुण स्थानक (छठवें से चौदहवें तक) से रहित नहीं है, लम्बि के अयोम्य नहीं है, अकल्याण की ही पात्र है ऐसा भी नहीं है फिर उत्तम धर्म की साधक क्यों नहीं हो सकती ?”

नन्दिसूत्र, प्रजापना, शास्त्रवार्ता-समुच्चय आदि श्वेताम्बर ग्रन्थों में भी इस विषय की पर्याप्त भीमांसा की गई है और मल्लि को तीर्थकर बताकर यह स्पष्ट किया गया है कि नारी भी शारीरिक और आध्यात्मिक विकास की पूर्ण अधिकारिणी है। उनके अनुसार ब्रह्म-ग्रहण से वीतराग की कोई हानि नहीं होती अन्यथा पीछी, दवा, भोजन आदि भी इसी श्रेणी में आ जायेगा अतः वस्त्र को नारी की मुक्ति प्राप्ति में बाधक नहीं माना जा सकता।

इसके बावजूद यह आश्चर्य का विषय है कि श्वेताम्बर परम्परा नारी की दृष्टिवाद के अध्ययन की अधिकारिणी नहीं मानती। ‘दृष्टिवाद’, जैसा हम जानते हैं, तात्कालिक प्रचलित परम्पराओं, दर्शनों और साधनाओं का भीमांसक संग्रह रहा है इसलिए उसका दुर्बु और जटिल होना स्वाभाविक है। परम्परा से चू कि नारी वर्ग शारीरिक और मानसिक दुर्बलताओं का पिण्ड मानी गयी है इसलिए उसे दृष्टिवाद जैसे दुर्बोध आगम ग्रन्थ के अध्ययन करने से दूर रखा गया है। इस सम्बन्ध में दो परम्पराएँ हैं—प्रथम परम्परा का सूत्रपात जिनमद्वयणि अमात्रमसं में किया है जिनके अनुसूतार दृष्टिवाद के अध्ययन के निषेध के पीछे नारी के सुषुद्ध, अतिमान,

1. ललित विस्तार पृ. 400

इन्द्रिय बाधक्य, नति मोक्ष अति नास्तिकिक दोष है।<sup>1</sup> द्वितीय, परम्परा को शारीरिक स्त्री ने प्रारम्भ किया जो नारी में अशुद्धि रूप शारीरिक दोष दिखाकर उसका विवेचन करती है।

इन दोनों परम्पराओं में एक ओर नारी को शारीरिक और सामाजिक दोनों से बाधक माना गया। और दूसरी ओर उसमें मोक्ष प्राप्त करने की योग्यता को स्वीकार किया गया है। यहाँ दोनों विचारों में पारस्परिक विरोध दिखाई देता है। उदाहरणार्थ शुक्ल ध्यान के पहले दो प्रकार—(1) पृथक्त्व वितर्क सविचार, (2) एकत्ववितर्क अविचार प्राप्त किसे बिना केवलज्ञान प्राप्त नहीं होता। 'पूर्व' ज्ञान के बिना शुक्ल ध्यान के प्रथम दो प्रकार प्राप्त नहीं होते और 'पूर्व' दृष्टिवाद का एक भाग है—शुक्ले चाखे पूर्वविदः। (तत्त्वार्थ सूत्र, ५, 39) अर्थात् दृष्टिवाद के अध्ययन बिना केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं होती और केवलज्ञान बिना मुक्ति प्राप्ति नहीं होती। ऐसी स्थिति में नारी को मुक्ति प्राप्ति का अधिकार दिया जाता पारस्परिक विचार-विरोध व्यक्त करता है। इसका समाधान इस प्रकार किया जाता है कि शास्त्र नारी में दृष्टिवाद के अर्थज्ञान की तो योग्यता मानता है पर उसे शाब्दिक अध्ययन का निवेश करता है। पर यह समाधान उचित नहीं दिखाई नेता क्योंकि शाब्दिक अध्ययन के बिना अर्थज्ञान कैसे होगा ?

जैन दर्शन के अनुसार नारी की योग्यता के सन्दर्भ में दिग्म्बर और श्वेताम्बर परम्पराये कुल मिलाकर बहुत दूर नहीं है। उन दोनों में नारी को पुरुष के समकक्ष मँठा नहीं देखते। इतना ही नहीं, प्राकृतिक दुर्बलताओं के कारण बन-धोर निन्दा कर उसे ही दोषी ठहराया गया है। नारी की दुर्बलता का मूल कारण कहाचित् यही रहा है कि उसे सांपत्तिक और धार्मिक अधिकार नहीं दिये गये। आचार्य जिनसेन ने इस तथ्य को महसूस किया और उसे पुत्रों की भांति सम्पत्ति में समान अधिकार प्रदान किये—पुत्रयश्च संविभगमाह। सम पुत्रेः समांशकेः (38।54)। इसी तरह उसे पूजा प्रक्षाल का भी अधिकार मिला। अंजना सुन्दरी, मैना सुन्दरी, मन्त्रवेद्या अथि देविदासिक किंवा पौराणिक नारियों ने जिन पूजा-प्रक्षाल किया ही है। यह अर्धविक्षिप्त है। होना भी चाहिए। जब उसे कर्मों की निर्जरा करने का अधिकार है, समता है तब उसे पूजा-प्रक्षाल से रोकना एक अमानवीय और असामाजिक कृत्य ही समझना चाहिए। ऐसी परम्पराओं के विरोध में नारी को एक अक्षय से आगे बढ़कर धार्मिक रुढ़ियों को समाप्त करना-करवाना चाहिए।

1. विवेचनार्थक भाष्य, भाषा 552.

परम्परा से नारी एक मूक दक्षिणा रही है। अधिकार देने वाला और अधिकार छीनने वाला 'बुद्ध' बने ही रहा है। दक्षिणी की दुनियाँ पर प्रबलक सङ्घर्षों का प्रभाव याप्त था। समतावादी जैन धर्म और समाज में वह विचलनप्रदायक दृष्टिकोणों का निर्मित ही वैदिक संस्कृति को प्रभावित कहा जायगा और उससे भी कहीं अधिक पुरुष वर्ग की सत्त्वमूर्ध्नि जिम्मेदार है। अर्थात् अर्थ के बावजूद ने नारी को और भी कुचलने और उसे कुचलने के लिए धार्मिक नियमों के कठघरे में भी उसे प्रबल कर दिया।

आज वस्तुतः इन परम्पराओं के पुनर्मूल्यांकन की आवश्यकता है और आवश्यकता है धारणा की देहली पर लड़े होकर नारी की प्रतिभा और क्षति को समझने की तथा उसे संयोजित और सुव्यवस्थित करने की। वर्तमान धार्मिकों को देखने पर ये प्राचीन परम्पराएँ व्यवस्थित प्रतीत होने लगती हैं। आज की नारी अपने आप को अधिक प्रतिभा सम्पन्न सिद्ध कर रही है। यदि उसे बुद्ध बने सम्बन्धित साधन उपलब्ध कराये और शास्त्रीय कल्पनाओं से दूर हटकर उसके वैज्ञानिक विचारों में हाथ बढ़ाये तो समाज के नारी वर्ग का समूचा उपभोग हो सकता है।

मगवान महावीर का समतावादी और पुरुषार्थवादी दृष्टिकोण नारी क्षति को ज्ञात करने के लिए पर्याप्त है। वह समूचे परिवार को एक आदर्शमयी वातावरण देकर उसमें नये जीवन का संचार कर सकती है। ग्रहसा, सत्य, स्तेय, ब्रह्मचर्य और अग्रपरिग्रह की अनुभूतमयी विचारधारा उसको तथा उसके परिवार को सुखी और समृद्ध करने के लिए एक सशक्त साधन है। अनेकतवाद और स्वातंत्र्य उसे पारिवारिक और सामाजिक विद्वेष से मुक्त रख सकते हैं। जैन दर्शन के वैदिक सिद्धान्त नारी जीवन को एक सुखद और सुरभिमय वातावरण देकर उच्चतम प्रगतिपथ पर पहुँचा सकते हैं।

×

×

×

विगत पृष्ठों में हमने जैन दर्शन की परिधि में नारी की स्थिति को देखा है। वस्तुतः नारी मुक्ति प्राप्त करने की अधिकारिणी है या नहीं, इस प्रश्न का सम्बन्ध हमारे वर्तमान जीवन से बहुत अधिक नहीं है। इस शास्त्रीय धर्म का कोई विशेष उपयोग भी नहीं। वर्तमान संदर्भ में तो प्रश्न यह है कि नारी को अपने संरचना में अपना किस प्रकार का महत्वपूर्ण योगदान दे सकती है। न. कुछ न कहा जा, तीर किसने मारा, क्यों मरा, कैसे मारा आदि प्रश्न सामयिक नहीं होते। सामयिक यह होता है कि पहले उसका तीर निकाला जाय, मरहम पढ़ी जाय और फिर भले ही समाज प्रश्नो पर विचार किया जाये। यदि प्रश्नो में उल्लेख गये तो उसकी मुख्य आवश्यकता है। इसी तरह नारी को कुचलने-धकाने का प्रतिकार घटनाओं दैनिक जीवन की धारणा बन गयी है। इन घटनाओं से मुक्त होकर नारी आत्म-विकास कैसे कर सकती है, यह प्रश्न अधिक महत्वपूर्ण है। संसार की धारणाओं के

बाधे हैं अधिक प्रतिकूल को उपेक्षित और दमित रखा जाना अब तब ही सम्भव है और न उचित ही है।

जैन दर्शन की सार्वभौमिकता नारी के विकास में बाधक नहीं हो सकती, ऐसी बेरी मान्यता है। जैन इतिहास के संदर्भ में भी यदि बात की जाये तो स्पष्ट हो जायेगा कि जैनाचार्यों ने नारी की बनवोर निम्ना और उसे समीचरण में कठोर बाधा नसे ही नाना हो पर समाज में उसकी स्थिति उज्ज्वल से उज्ज्वलतर होती गई है। सभी आत्माओं को अनन्त चतुष्टय युक्त मानकर नारी को सर्वप्रथम जैन दर्शन में ही यह कहकर उद्बुद्ध किया है कि तुम्हारी आत्मा में भी अनन्त शक्ति सर्वज्ञ-ज्ञान पारिव की है जो तुम्हारे जीवन को स्वावलम्बी और सुखी बना सकती है। आवश्यकता इतनी ही है कि हमें अब इस शक्ति का आभास हो जाना चाहिए। जब तक नारी स्वयं इसका आभास न कर ले, उसका विकास सम्भव नहीं। उसे अब किसी के मुँह की ओर देखने की आवश्यकता नहीं। उसे स्वयं ही इस बात का निर्णय करना है कि वह किन साधनों से आत्मविकास कर सकती है और किन साधनों से अपनी प्रतिभा और शक्ति को समाज के विकास में नया सकती है।

प्रथम बात तो यह है कि उसे यह मानकर चलना होगा कि वह परिवार का एक महत्वपूर्ण घटक है। उसे सामंजस्य और सहिष्णुतापूर्वक परिवार के सभी सदस्यों को लेकर पारिवारिक समस्याओं का समाधान खोजना चाहिए। दूसरी बात यह है कि परिवार के विकास में उसे स्वयं को भी उत्तरदायी समझना होगा।

ये दोनों तत्त्व एक दूसरे पर निर्भर करते हैं। परिवार का महत्वपूर्ण घटक ही परिवार के विकास का उत्तरदायी रहता है। परिवार व्यक्ति का सीमित समूह है और परिवारों का समूह एक समाज है। व्यष्टि से समष्टि और समष्टि से व्यष्टि जुड़ा हुआ है। अर्धनारीश्वर की कल्पना नारी के महत्व की और स्पष्ट रूप से इंगित करती है।

जैन दर्शन ग्रहण्य धर्म में न्यायोपार्जन को एक आवश्यक तत्त्व मानता है। उसे धावक के लक्षण में एक माना गया है। बोधण की इति इस तत्त्व से दूर हो जाती है और समता भाव की जाग्रति जाने में सहायक बनती है। आज के जीवन का केंद्र कम प्रभटाचार भी इससे समाप्त हो जाता है। वे अपने जीवन को कम से कम बरिदही बनायें जिससे उनके भावों में विमुक्ति आ सके। धितव्यधिता का सिद्धांत भी इसी सिद्धांत से जुड़ा हुआ है। परिवार को सुव्यवस्थित रखने के लिए एक सिद्धांत से विमुक्त हुआ भी नहीं जा सकता। दुर्धर्मनों से मुक्त रहकर धर्म साधना करना जैन ग्रहण्यधार का दुर्लभ धर्म है। हम जानते हैं कि धूल भीड़ा और मज पान से कितने परिवार बरबादी की कमार पर पहुँच जाते हैं। ऐसे परिवारों का भित्तनी सखमतापूर्वक नारी विनाश से बचा सकती है, सम्भव नहीं।

वर्तमानमें ज० महावीर के अपरिग्रहवाद को यदि अपने जीवन में उदारों से अपरिग्रहवाद दूर ही रक्खता है क्योंकि इस अपरिग्रहवाद के पीछे नारी की स्वातन्त्र्य-वादी प्रवृत्ति भी एक कारण है। नारी इस दुःखद कारण को स्वयं दूर कर सकती है यदि वह अपनी जनोन्नति में परिवर्तन कर ले। परिवार को सुखी बनाने में इस प्रकार का सामाजिक परिवर्तन अत्यावश्यक है। ज० महावीर के अपरिग्रहवाद का यही स्वर है।

×

×

×

इतिहास के पृष्ठ उलटने पर यह बात किसी से छिपी नहीं रहती कि प्राचीन काल में नारी की क्या स्थिति थी। वैदिक काल की नारी मूलतः भोग्या भी पर उत्तरकाल में उसे धर्मचारिणी बना दिया। इसके बावजूब उसका भोग्या रूप समाप्त नहीं हो पाया भोग्या रूप से सहचारिणी तक आते-आते नारी ने शताब्दियां बिता दी हैं। ज० महावीर और महात्मा बुद्ध ने इसकी स्थिति पर गम्भीरता पूर्वक सोचा और उसे यथोचित स्थान देने का बीड़ा उठाया। चूंकि समाज के इस वर्ग में एक नई क्रान्ति थी इसलिए इन महामहिम क्रान्तिकारी व्यक्तियों को भी निश्चित ही अनेक प्रकार के विरोधों का सामना करना पड़ा होगा। परन्तु उन विरोधों को सहते हुए भी महावीर ने नारी को लगभग वही अधिकार देने की पैसकश की जो साधारणतः पुरुषवर्ग को था। नारी की ओर से बुद्ध के समझ प्राप्त नद वकील बनकर खड़े हुए पर महावीर के समझ नारी को अपना कोई वकील करना पड़ा हो, ऐसा पता नहीं चलता लगता है, महावीर बुद्ध की अपेक्षा नारी के विषय में कहीं अधिक उदार रहे। चन्दनाला के जीवन की धार्मिक घटनाओं को क्या हम उसमय की नारी विकट परिस्थिति का प्रतीक नहीं कह सकते? चन्दनाला के धूम पर बांधकर जेल में डाल दिया जाना उस समय की स्थिति को इंगित करते हैं। महावीर द्वारा चन्दना का उद्धार किया जाना और उसे संघ में दीक्षित हो जाना नारी स्वातंत्र्य का प्रतीक है। उसे हम प्रतीक माने या न माने परन्तु यह निश्चित है कि महावीर जैसे क्रान्तिकारी व्यक्तित्व ने नारी की दुरबस्था पर धांसू जकर बहाये होंगे। वे आसद मबरमन्त्र के धांसू नहीं रहे होंगे बल्कि एक कर्मठ क्रान्तिकारी मानवतावादी धार्मिक का संवेदनशील प्रगतिवादी कदम रहा होगा जिसने नारी वर्ग के स्पन्दन को जांचा, परखा और उसे सहलाया।

नारी को दिये गये इस स्वातंत्र्य ने उसमें आत्मशक्ति जाग्रत की। आत्मशक्ति का जागरण उसके जीवन की महान् सफलता का साधन बना। उसकी उस आत्मशक्ति ने उसे मोक्ष तक पहुंचा दिया। मोक्ष ही नहीं बल्कि तीर्थंकर बनाकर बैठा दिया।

परन्तु नारी की स्थिति का यह परिवर्तन स्थायी नहीं रह सका। बोड़े समग्र मास ही नारी की चेतना को फिर दबोच दिया गया। उसे वर्तन उठाने का जो

प्रवृत्त नित्य बर सह सहस-नहस कर दिया गया। उसकी शारीरिक सुख-सुखा और मनासिक आनन्दता का लाभ उठाकर पुरुषवर्ग ने उसे पुनः बकड़ किया। परदा-सम्बन्ध के कड़े पिण्डों ने फंसकर उसकी प्रतिभा मोचर नई। एक प्रयत्न काष्ठ-कण का रंग देकर उसे भी खोलकर भ्रम-भ्रम कहा गया। श्रुति-ग्रन्थियों ने अपने दुर्गुणों का शारा बोक भवला नारी के निबल कंधों पर रख दिया और दूर खड़े होकर हर तरह की झालोचना भरे गीत गाना प्रारम्भ कर दिये। उच्चरकालीय कवियों ने तो नारी की प्रच्छी खबर ली। उसके भ्रम-प्रत्यगों का भी खोलकर रोमांचक वर्णन किया। इस प्रकार की स्थिति लगभग 19 वीं शती तक चलती रही। कुछ गिनी-चुनी महिलाएं प्रवचन हुई जिन्होंने ऐसी विकट परिस्थिति में भी अपनी बीरता व सहस का परिचय दिया।

समाज में नारी की स्थिति का गम्भीर अध्ययन करने के बाद विमोक्षा जैसे प्रयत्न और चिंतक को यह कहना पड़ा कि जब तक नारी वर्ग में से ही कोई शंकराचार्य जैसा व्यक्तित्व पैदा नहीं होता तब तक उसका उद्धार नहीं हो सकता। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि हमें अपने स्वातन्त्र्य के लिए स्वयं ही प्रयत्नशील होना होगा। वह किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा देने से नहीं मिल सकता। कदाचित् मिला तो हम उसका भ्रूसाकन नहीं कर पायेंगे। जो वस्तु स्वयं के भ्रम से प्राप्त की जाती है उसके प्रति हमारे मन में अधिक श्रद्धा और लगाव रहता है और जो वस्तु बिना आयासे के ही मिल जाती है उसके महत्व को हम नहीं समझ पाते। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है। हमारा सारा धर्म और संहिताएं पुरुष द्वारा निर्मित हुई हैं। उन पर पुरुषों का ही आधिपत्य रहा है इसलिए अभी तक नारी समाज को परावलम्बन का मुँह देलना पड़ा। परावलम्बन में जागृति और चेतना कहाँ? जब तक व्यक्ति के मन में अपने स्वतन्त्र अस्तित्व के लिए संघर्ष की बात गले न उतर जाये तब तक वह प्रगति के रास्ते पर चल ही नहीं सकता। प्रगति के इसी रास्ते को अभी तक भ्रवण बनाये रखा है। इस भ्रवण को नारी वर्ग स्वयं जब तक अपनी पूरी शक्ति से तोड़ेंगी नहीं, प्रगतिप्रथ प्रयास नहीं हो सकेगा। कभी वस्तु की तोड़ने से वह और टूट जाती है और कभी वस्तु के तोड़ देने पर उसे अपने हथ से जोड़ भी दिया जाता है। यह जोड़ कभी-कभी मूल वस्तु से कहीं अधिक मजबूत होता है। हमें पुरानी निरर्थक परम्पराओं को तोड़कर इसी प्रकार मजबूत जोड़ लगाना है। ऐसी परम्पराएं जिन्होंने नारी समाज को अस्त-व्यस्त कर दिया, अर्जर कर दिया, अस्तिहीन कर दिया, दहेज, बाल-विवाह, विधवा विवाह, बहुपत्नीप्रथा, परदा प्रथा आदि समस्याएं प्रमुख हैं।

इन सभी विकराल व्यवस्थाओं को पारकर हमें अपनी और समाज की प्रगति करनी है। इसके लिए जिस प्रकार व्यक्ति की आवश्यकता है उसे प्राप्त करने का



सामाजिक क्षेत्र में महावीर के समान लेख को फिर एक संस्कार है। विद्वानों का भी समर्थन भी हीनचित्तों के समर्थन के तुल्य करे। संसार-प्रेमियों पर हीन चित्तों को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए। उनका समर्थन करना हीन चित्तों को उस विषयता को गतिबाधित करने वाला वह व्यक्ति कितना प्रखर रहा होगा, वह सत्य ही अनुमान नहीं कर सकते हैं। उसी प्रकार व्यक्ति के विचारों ने लोगों को नारी वर्ग को उसकी हीन मानना से मुक्त होने का मार्ग प्रशस्त कर दिया और समानता की आधार सिद्धा को प्रभावित किया।

× × ×

महावीर का यह प्रगतिवादी सूत्र अधिक समय तक जितना नहीं रह सका। धर्म-धर्म: वह काल कबलित होता गया। नारी का भी संस्कार पूरी तरह संस्कारित नहीं हुआ था। इसलिए वह भी जैसे अपना अस्तित्व ही खो बैठी है।

इन्हीं सब स्थितियों को देखकर सन् 1975 में अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष मनाया गया ताकि नारी वर्ग अपने स्वतन्त्र अस्तित्व को पुनः प्राप्त कर सके। इसके बावजूद यदि हम जाग्रत नहीं, हो सके तो हो सकता है, हमें फिर पुराने रास्तों पर लौटना पड़े। पर अब यह लौटना सरल नहीं होगा। नारी वर्ग में महावीर की समानता का सूत्र बर कर रहा है। अब उसे पुनः उड़ी का ने रखना सरल नहीं होगा।

× × ×

पंचकल्याणक प्रतिष्ठा, गज्जरय महोत्सव आदि जैसे व्यवसाय आधेजन जन वर्ग और संस्कृति के प्रसार-प्रसार के प्रमुख माध्यमों में अग्रगण्य माने जाते हैं। इन माध्यमों से धार्मिक और सामाजिक नेताओं ने जन-जन के बीच जन प्रजापना में अग्रगण्य की है और उसके वास्तविक तत्व को प्रस्तुत करने का संकल्प प्रकृत किया है। जन मानस ने ऐसे उत्सवों को सराहा भी है। नारी वर्ग के लिए भी ये उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अतः ही इसमें समाज का पक्ष अनपेक्षित रूप से पानी की धार बहता ही।

× × ×

हमारे समाज का अधिकतर नारी वर्ग लोकहित क्षेत्र में अभी भी अज्ञान पीछे है। उसके साथ प्राचीन धर्मविश्वास और वैशेष्यवादी परम्पराएँ सही ढंग के समान विपकी हुई हैं। इन परम्पराओं ने समाज के अग्रगण्य में एक बहुत बड़ी बाधा उत्पन्न की है। फलतः उसका अध्ययन, स्वाध्याय तथा प्रहण शक्ति का विकास अपेक्षाकृत अधिक नहीं हो सका।

इसके बावजूद नारी वर्ग समाज का एक प्रबल समूह है। यदि वैशेष्यवाद को ही समाज के विकास में बड़ा बाधा परिवर्तन का संकेत है। वर्ग के वास्तविक

स्वरूप को बचि सही-जं से उस तक पहुँचाया जाये तो उसके बुद्धिकोश में प्रगति  
 आना कठिन नहीं है। जैसे पहले की अपेक्षा आज कुछ परिवर्तन आया भी है। किन्तु  
 भी उसे सम्तोषजनक नहीं कहा जा सकता।

आज सारा विषय नये आयाम लिये प्रवृत्ति कर रहा है पर हम उससे अन-  
 श्रित से बने हुए हैं। हम अपने पारिवारिक षटकों में न समन्वय स्थापित कर पा  
 रहे हैं और न उन्हें एक निश्चित सुदृढ़ प्रगति का साधन दे पा रहे हैं। आधुनिक  
 परिप्रेक्ष्य में हमें अपनी सारी समस्याओं की पृष्ठभूमि में उतरना होगा और निष्पक्ष  
 होकर उन पर विचार करना होगा। अन्यथा हम जहाँ हैं वही रहेंगे। वहाँ से अधिक  
 आगे बढ़ नहीं सकेंगे।

नारी वर्ग चेतना का प्रतीक है। उसमें किसी भी प्रकार की क्षमता का  
 प्रभाव नहीं है। बस, आवश्यकता है एक नये उत्साह और प्रेरणा स्रोत की जो उसे  
 सहानुभूति और सहिष्णुता पूर्वक अखिल स्नेहिल सौहार्द दे सके तथा अपनी सम-  
 स्याओं के समाधान की ओर अग्रसर हो सके। इसका सबसे अच्छा उपाय है कि हम  
 अपनी बैठियों, बहुओं और बहनों को अधिक से अधिक सुशिक्षित करें और उन्हें  
 सुसंस्कृत वातावरण के परिवेश में जीवन यापन करने दें। दहेज न दे पाने से  
 उनका जीवन दूभर हो रहा है। पुत्रियों के प्रति होने वाले व्यवहार से उनके मन में  
 हीनभावना और विद्रोह भावना दोनों एक साथ पनपती रहती है। इसलिए वे न तो  
 अपनी शक्ति का उपयोग स्वयं के विकास में लगा पाती हैं और न दूसरों का ही  
 विकास कर पाती हैं। बल्कि परेशान होकर आत्म हत्या की ओर उन्मुख होने के  
 लिए विवश हो जाती हैं। कतिपय धन प्रेमी दानव परिवार तो उनका घात करने  
 में भी संकोच नहीं करते।

दहेज प्रथा निषेध अधिनियम, 1961 नारी को इस नारकीय जीवन से मुक्त  
 करने के लिए अपेक्षित वातावरण तैयार नहीं कर सका। सरकार दहेज का शीमक  
 क्षतम करने के लिए कठोर कानून बनाने पर सक्रियता से विचार अवश्य कर रही  
 है पर यह कहाँ तक सफल हो सकेगी, कहना कठिन है। हर कानून को तोड़ने के  
 वैधानिक रास्ते निकाल लिए जाते हैं। अतः अब इसके विरोध में नारी द्वारा ही  
 आन्दोलन का सूत्रपात किया जाना चाहिए।

हम यह मानते हैं कि नारी की कुछ सामाजिक समस्याएँ ऐसी हैं जिनका  
 समाधान पुरुष वर्ग के स्नेहिल सहयोग बिना सम्भव नहीं है। उसका सहयोग ले  
 पाना कठिन भी नहीं है। उदाहरण इसके बुद्धिकोश में परिवर्तन आने की क्षमता, पुरुष

साहस का प्रदर्शन हमें विश्वीय करवा होगा। सामाजिक-वेतन को जाबत करने का संकल्प लेकर वही का पूर्णतः बहिष्कार करना नारी के ही हाथ में अधिक है। वह आत्मशक्ति और प्रतिभा तथा साहस के बल अपने जीवन की हर समस्या को सुलझाने में सक्षम है। जैन धर्म उसकी इस प्रखर शक्ति की पूर्ण अभिव्यक्ति को स्वीकार करता भी है। बस, समाज में व्याप्त बाह्य कथनों की संतरोप से बौद्धों का बीड़ा उठा लिया जाये तो समस्या सुलझाने की ओर बढ़ सकती है। हमारी निर्भीक प्रवृत्ति तथा यथार्थमुख आदर्शवादी हृत्ति की ओर हमारा युवा वर्ग भी यदि निश्चलता पूर्वक आकर्षित होगा तो समस्याओं का समाधान हम सब एक जुट होकर खोज निकालेंगे।

X

X

X

नारी वर्ग में नयी चेतना लाने के लिए पंचकल्याणक प्रतिष्ठा जैसे महोत्सव प्रमृत स्वरूप हैं। जैन धर्म नारी को समान अधिकार दिये हुए है चाहे वह आध्यात्मिक क्षेत्र हो या राजनीतिक, सामाजिक हो या धार्मिक। सभी क्षेत्र नारी के चरम विकास के लिए खुले हुए हैं। नारी के स्नेहिल सहयोग के बिना ये क्षेत्र मरुस्थल बन जाते हैं, प्रेम प्रदीप बुझ जाता है और संघर्ष तथा द्वेष की आग भ्रमक उठनी है।

पिछले कुछ वर्षों से इन उत्सवों के संदर्भ में अनेक प्रश्नचिन्ह बढ़े हो रहे हैं और उनके आयोजनों की प्रसामयिक बताया जा रहा है। वैसे बात किसी सीमा तक सही है भी। समाज का एक ऐसा भी वर्ग है जो धार्मिक और शैक्षणिक दृष्टि से बहुत पिछड़ा हुआ है। उसके भ्रम्युदय की ओर ध्यान दिये बिना यदि हम अपना वैभव प्रदर्शन और द्रव्य का प्रपव्यय करते हैं तो ऐसे आयोजनों पर प्रश्नचिन्ह बढ़े होंगे ही। आश्चर्य तो यह है कि विरोध जितना अधिक हुआ, ऐसे आयोजनों की संख्या उतनी ही बढ़नी गई। इसीलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन आयोजनों का पुनर्पूर्णांकन होना आवश्यक है।

अधिकांश आयोजनों की पृष्ठभूमि में सूत्री यशोलिप्सा काम करनी है। व्यक्ति की यशोलिप्सा पूरी करने के व्यावहारिक और उपयोगी मार्ग और भी खोजे जा सकते हैं। ये मार्ग ऐसे हैं जिनके माध्यम से सामुदायिक चेतना जाग्रत हो सके। बाह्य प्रदर्शन से बचकर धर्म का बहुत भाग समाजिक विकास में लगाया जाना चाहिए। पिछड़े परिवारों को उद्योग और व्यापार के लिए धार्मिक सह्युयता दी जाये तथा उनके बच्चों को शिक्षा के क्षेत्र में बढ़ाने के लिए हर सम्भव धार्मिक सहायता पहुंचायी जाये।

X

X

X

धर्म का संसार इतना अधिक संकीर्ण होता जा रहा है कि एक वर्ष की अवधि में एक वर्ग ही बनकर रहूँ रह जाँते हैं और वे दूसरे वर्गों से भी प्रभावित

कार होती है। कारीबर्न की जितनी कमियाँ हैं वे एक-दूसरे को पूरती हुई हैं। इसी प्रकार परधरा प्रभावित भी है। अतः संकल्पार्थों के मूल रूप को समझना अनिवार्य-वश्यक है।

आज का समाज विज्ञान की ओर प्रीकलना रहा है और विज्ञान के अर्थ में इसका मूलना अन्तर का रहा है कि उसे वह भी मता नहीं रह जाया कि नैतिकता किब बिड़िया का नाम है ? आध्यात्मिकता का उसके साथ क्या सम्बन्ध है ? भावक्या क्या है ? साम्राज्यवाद की सही विधा क्या है ?

इतिहास में ऐसे अनगिनत उदाहरण मिलते हैं जहाँ धर्म के कारण संघर्ष हुए हैं और राष्ट्र के राष्ट्र तद्रूप-वहल हो गये हैं। उसके बीभत्स रूप को देखकर ही अत्यन्त विन्तकों ने धर्म को अफीम कह दिया। परन्तु प्रश्न यह है कि धर्म क्या वस्तुतः अफीम है। अफीम रहा होगा किन्हीं परिस्थितियों में। परन्तु क्या उन परिस्थितियों को सार्वजनिक न माना जाये ? क्या यह कहा जा सकता है कि वे सारी परिस्थितियाँ आज भी वैसी की वैसी ही हैं ? इसे हम विभिन्न ही स्वीकार नहीं कर सकेंगे। उस समय की परिस्थितियाँ अलग थीं और आज की परिस्थितियाँ अलग हैं। धर्म परिस्थितिजन्य होता है।

जैन दर्शन में "वस्तु सहायो धर्मो" कहकर धर्म की परिभाषा की है। इस परिभाषा से यह अभिव्यक्त होता है कि वस्तु मूलतः अप्रभावित रहती है। वह स्वयं में परिपूर्ण है। तत्त्वतः उसमें तीन गुण रहते हैं—उत्पाद, व्यय और प्रीव्य। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वस्तु प्रभावित और परिवर्तित भी होती रहती है पर उसका स्वभाव नष्ट नहीं होता। धर्म का एक अन्य स्वरूप है—कर्तव्य। व्यक्ति, समय, देश काल आदि की दृष्टि से कर्तव्य पृथक्-पृथक् हो जाते हैं।

धर्म की ओर भी जितनी व्याख्यायें हुई हैं वे सभी इन दोनों व्याख्याओं के आस-पास मड़राती रहती हैं। प्रथम व्याख्या में हम संसार को जलिक मानकर चलते हैं। इसलिए उसमें अनासक्ति का भाव निहित रहता है। दूसरा स्वरूप कर्तव्य-का बोध कराता है। प्रथम उपदेक्षात्मक है और द्वितीय व्यावहारिक। इन दोनों स्वरूपों को समन्वित रूप में देखना अत्यन्त आवश्यक है।

मानव मिश्रित कर्तव्य बोध हमारे समाज के हर वर्ग से निरन्तर बढा कर रहा है। आज हम-स्वार्थ की ओर प्रतिक्रियात्मक चलते हैं, परस्पर की-प्रति-क्रियात्मक। यद्यपि स्वार्थ और परस्पर का संघर्ष सदैव होता रह रहा है पर आज के अर्थव्यवस्था

कर्म हमारे संचालने का रहा है वह पूर्व युगों से कहीं अधिक अधिकतर है। उसके इस अधिकतर रूप को दूर करके हमारा कर्तव्य है।

अब जो कौताहरण को समुद्र और उत्तम बनाने में जड़ियाओं का योगदान अधिक हुआ करता है। बच्चों के लिये सुखवर्ष की प्रतीका के अधिक सम्बन्ध युक्तिकार कर रहा करती है। इसलिए संस्कारों की भूमिका जितनी सुन्दर जारी बना सकती है उतनी मुख्य नहीं। आज के बालक कल के समृद्ध नागरिक हैं। इसलिए उन्हें सही भावनात्मक बनाने का समूचा उत्तरदायित्व जारी वर्ग का है।

आज के युवा वर्ग में कर्तव्य बोध की भावना कम होती चली जा रही है जो एक विन्ता का विषय है। इसका भी उत्तरदायित्व हमारा ही है। हम उसे प्रादुर्भावित वातावरण नहीं दे सके जिसमें वह सुसंस्कारित हो सके। वातावरण वस्तुतः दिया नहीं जाता, बन जाता है। वहाँ कृत्रिमता या बनाबटीपन नहीं होता, स्वाभाविकता होती है। जीवन कृत्रिमता से प्रोत्पन्न रहेगा तो सारा वातावरण संदिग्ध, अविश्वस्य और छल कपटमय बना रहेगा।

हम स्वयं अभी तक चेतने नहीं और न चेतना चाहते हैं। हम स्वयं न जीते हैं और न जीना चाहते हैं। जीते तो सभी हैं। छोटे-छोटे प्राणी भी अपना जीवन यापन कर लेते हैं। परन्तु जीने के ढंग में अन्तर है। हमने जीने के ढंग को या तो समझ नहीं पाया या कदाचित् समझ पाया हो तो उस पर अमल नहीं कर पाया। हम बहुत सो चुके हैं, युगों-युगों से सोते चले आ रहे हैं। ऐसा लगता है, कुम्भकारण की निद्रा का असर अभी भी है। दुनियां इतनी आगे बढ़ रही है पर हम आज भी अपनी अन्ध परम्पराओं में गुंथे हुए हैं। परम्पराओं के निर्माण में परिस्थितियाँ कारण बनती हैं। परिस्थितियाँ बदल जाती हैं पर परम्परायें बचसती नहीं बल्कि विकृत होती जाती हैं यदि उनके साथ विवेक न रहे।

इन परम्पराओं में विधवा विवाह न करने की परम्परा पर विशेष मन्त्रण किया जाना आवश्यक है। वह महिला जो संसार का कुछ भी नहीं देख सकती और जिसे धारी के छोड़े समय बाद ही जीवन साथी के विवाह को प्रसन्न कुशलमत सहसा पड़ा, अपना सारा जीवन निरापेक्ष रूप से कैसे व्यतीत कर सकती है? कुंडलों के बोझिल ढेरका साथ जीवन दुस्तह हो जाता है। परिवार के सारे सदस्य उसे शोक की निगाहों से देखते हैं। वह भी बीच-हीन कन्धर अपना कर्म व्यक्त करती है। शरीर की विकराल आँके उसके धारों और प्रकृति रहती हैं। कलकत्ता बहक निमित्त हो जाने पर वह आरकृत्य के लिए भी विकृत हो जाती है। यह भी निमित्त मे

प्रत्यक्ष अरुणकरा वर पुनर्विचार आवश्यक है। यदि वह विवाहित हो चुकी है तो इन सारी विषयों से वह मुक्त हो जाती है। फिर वह प्रकृतिक विषयवस्तु बचत वाली को ही क्यों, नर को क्यों नहीं? मात्र इसीलिए की नारी अबला है, परत्नता में उसका सारा जीवन व्यतीत होता है? पर वह सामाजिकता की दृष्टि से भी ठीक नहीं है। यदि परिस्थितियाँ अनुकूल हों और वह महिला सङ्घत हो तो उसका पुनर्विवाह समाज को मान्य होना चाहिए। हाँ, यदि ऐसी कोई महिला शारीरिक किंवा प्राध्यात्मिकता के क्षेत्र में अपना कवम भ्राने बढ़ाना चाहे तो फिर पुनर्विवाह का अर्थ ही नहीं उठता। जो भी हो, इस विकट समस्या पर सहानुभूति पूर्वक विचार किया जाना चाहिए और ऐसी महिलाओं को जीवनदान दिया जाना चाहिए जो पथ से विचलित होने के कंमार पर लड़ी हुई हों।

×

×

×

प्रायः शिक्षा के क्षेत्र में नारी वर्ग अग्रगण्य भागे बढ़ता चला जा रहा है। उसके हर क्षेत्र में उसने अपनी साख बना ली है। प्रायः हर परीक्षा में प्रथम भागे बालों में महिलाओं की संख्या अधिक रहती है। इसका स्पष्ट अर्थ यह है कि नारी में प्रतिभा की कमी नहीं है। कमी है उसे समुचित क्षेत्र तथा सुविधाएं मिलने की। प्रायः भी बहुत परिवार ऐसे हैं जो अपनी कन्याओं को शिक्षित नहीं कर पाते या शिक्षित करना नहीं चाहते। शारीरिक समस्या आड़े आती है या मानसिक संकीर्णता का जोर अधिक रहता है। पारिवारिक संघर्ष का भी वह एक कारण बन जाता है। अतः समाज के अभ्युदय की दृष्टि से महिला वर्ग को सुशिक्षित करना आवश्यक है।

वर्तमान में एक और सबसे बड़ी समस्या है धर्म को व्यावहारिक बनाने की प्रयत्ना व्यावहारिक क्षेत्र में धर्म को समाहित करने। धर्म के तीन पक्ष होते हैं—प्राध्यात्मिक, दार्शनिक और व्यावहारिक। प्राध्यात्मिक धर्म आत्मिक अनुभव प्रधान होता है। दर्शन प्रधान धर्म चिन्तन के क्षेत्र में आता है और व्यावहारिक धर्म आचरण के क्षेत्र में माना जा सकता है। यह आचरण ही धर्म बन जाता है। प्रश्न यह है कि यह धर्म कैसा है? जैन धर्म मूलतः भाव के साथ जुड़ा आचरण प्रधान धर्म है। उसका आचार व्यावहारिक है। प्राध्यात्मिक नहीं। उसे जीवन में सरलता पूर्वक उतारा जा सकता है। मानवता के कोने-कोने को आंकड़र जैन धर्म ने अपने मूल-आचार को निर्मित किया है। परन्तु आज हम उसके मूल रूप को भूलकर भाव बाह्य क्रियाओं पर ध्यान देने लगे हैं। यह कैसे ही होगा जैसे हम ध्यान में से बाह्य निकालने पर उठती हुई ध्यान की फुफ्फुली को ही पकड़ने दौड़ते रहें। ये बाह्य क्रियाकाण्ड उस ध्यान की फुफ्फुली के सखाब हैं जो निःश्वस है। रात्रि ओजस व अश्वत्थ जीवन छोड़ना तो ठीक है ही, पर साथ ही ग्रहिया, अल्प आदि पंचाभुक्तों का परिप्राशन भी होना चाहिए। जब तक हम रागादि विकारों को छोड़ने का प्रयत्न नहीं करते

तब तक परिस्थानों में सरलता या ही नहीं सकती। जैन धर्म का यही मूल धार है कि हमें इन विचारी प्राणियों को छोड़ कर सरलता की धार नहीं। विश्व-विचार में यह सरलता नहीं होती वह परिचार प्रायः विश्व-विश्व ही प्राप्त है।

बच्चे भी हमारे जैसे क्रियाकाण्ड प्रधान धर्म को वे क-सुनकर तब तक अपने मसते हैं। प्रायः जितने मान क्रियाकाण्डी होते हैं उनमें स्वभावतः क्रियाकाण्ड प्रकृति ही माना अधिक होती है। सोमनेव सूरि ने ऐसे क्रियाकाण्ड प्रधान धर्म की एक बतका का उल्लेख किया है जहाँ क्रियाकाण्डी एक कुत्ते को केवल इसलिए मार डालते हैं कि उसने उनके पूजन द्रव्य को छूटा कर दिया था। वेरे कहने का यह धर्म नहीं है कि धर्म में क्रिया नाम का कोई तत्त्व न ही। क्रिया के बिना कोई रहना कहां? मैं तो मान इतना ही कहना चाहती हूँ कि क्रिया के साथ सब एक बतकि-शुद्धि नहीं, सम्यग्ज्ञान की धारा उसके साथ जुड़ी नहीं, तब तक वह धर्म लो-कहीं, और कुछ भले ही हो। बालकों के समझ हमें धर्म का ऐसा रूप रखना चाहिए जो सीधा, सरल, नैतिक और व्यावहारिक हो और हमारे धर्म के विपरीत न हो।

यह निर्विवाद तथ्य है कि हमारा जैनधर्म पूर्ण वैज्ञानिक है। व्यक्ति-व्यक्ति को शान्ति देने के लिए इसमें अनेक सुन्दर मार्ग स्पष्ट किये गये हैं। परन्तु कल्पितार्थ यह है कि इसे हम न धरुद्धी तरह समझ सके हैं और न समझ सके हैं। ऐसी स्थिति में यदि युवा वर्ग क्रियाकाण्ड को देखकर, उसी को धर्म का मूल रूप समझकर धर्म से दूर भागने लगे और फिर हम उन्हें पयभ्रष्ट कहने लगे तो यह बसती वस्तुतः उनकी नहीं, हमारी है। हम उनको धर्म का सही रूप बता नहीं सके और न उनकी शक्ति का सही उपयोग कर पाये। उनके प्रश्नों का समाधान करने लगे पयवा बण्डों से नहीं, बल्कि सही दिशादान से होना चाहिए। इसमें हमारे परिस्थानों की सरलता विशेष उपयोगी हो सकती है।

विधि विधान की वृष्टभूमि में साधारण तौर पर व्यक्ति के मन में कोई न कोई आशा लगी रहती है। व्यक्ति सांसारिक भासा से विश्व-विश्व प्रकरण के तथा कचित् धार्मिक साधारण भी करता है। कभी-कभी उसके साधारण की प्रकिया से ऐसा भी लवने लयता है कि वस्तुतः उसका साधारण किसी धर्म से सम्बन्ध नहीं, बल्कि लौकिकता की समिद्धि से जुड़ा हुआ है। धर्म तो वस्तुतः धार्मिक विचारों को समस्त करने का एक ऐसा मार्ग है जिसके पीछे परव शान्ति की सुमन्व, समुद्धी रहती है। इस महक से वह व्यक्ति स्वयं तो सुवर्धित होता ही है, साथ ही धार-पय के साधारण की सुवर्धित और सुवर्ध बना देता है।

भारतीय संस्कृति में धार्मिक विधि-विधानों की एक सखी परम्परा है। इस परम्परा में शक्ति परम्परा का सम्बन्ध ऐसे विधि-विधानों से है जिन्हें हम पूर्णतः

धार्मिक नहीं कह पाते। जैन धर्म सिद्धांत परम्परा से सम्बन्ध है। और निष्कर्म परंपरा से सम्बन्ध होने के कारण उसके विधि-विधान भी कुछ धार्मिक होना चाहिए। धर्म अकृत्रिमता अथवा स्वाभाविकता का दूसरा नाम है यदि हमारा लक्ष्य परमसुख और निर्विघ्न की प्राप्ति की ओर है तो उसके साधन स्वल्प विधि-विधान भी परम धार्मिक होना चाहिए।

जैन धर्मक धारणा के ही विद्युत् स्वरूप को परमात्मा मानता है। इस परमात्मपद की अर्थव्यक्ति के लिए उसे किसी साधन की आवश्यकता नहीं होती। वह आत्मनिर्भर और स्वयं ही प्रकाशमान है। वह अज्ञान और अविद्या के कारण अज्ञान और अविद्या से मोह छोड़ते हुए क्रमशः प्रागे बढ़ सकता है और अज्ञान-विद्या प्रवृत्ति प्राप्त कर सकता है। इस प्रवृत्ति की प्राप्ति के लिए धार्मिक विधि-विधान एक साधन किंवा साधन के रूप में स्वीकारे गये हैं। चाहे वह मुक्ति-पूजा ही अथवा विधान, चाहे वह उपवास हो अथवा कीर्तन, ये सभी वस्तुतः धार्मिक साधन हैं।

जैन संस्कृति के विकासात्मक इतिहास को देखने से यह पता चलता है कि जैन धर्म मूल रूप से इनकी विधि-विधानों का परंपरागत नहीं है। उत्तरकाल में विविध धर्म-संस्था परम्पराएं धार्मिक और उनके माध्यम से शासन देवी-देवताओं की भक्ति, उपासना, पूजा पाठ आदि साधनों का प्रारम्भ हो गया। इन सभी पर वैदिक संस्कृति का सर्वाधिक प्रभाव पड़ा।

एक प्रश्न उठता है कि वर्तमान संदर्भ में इनकी आवश्यकता क्या है? आज की घाट कट संस्कृति यह मांग करती है कि उसे कम समय और शक्ति में अधिक से अधिक फल मिले। साधना का क्षेत्र तो निश्चित ही बड़ा लम्बा, चौड़ा और गम्भीर है। उसमें एकाग्रक प्रवेश करना भी सरल नहीं है। इसलिए युवा पीढ़ी को धार्मिक कर्मों के लिए धार्मिक विधि-विधान निश्चित ही उपयोगी साधन हैं। ये साधन हैं जो जिनमें ध्यति अपने प्रायकी कुछ समय के लिए रमा लेता है और प्राय की सीमाओं पर बढ़ने की पृष्ठभूमि संचार कर लेता है। यदि कोई निश्चयनय मान की बात करके व्यवहारलय की उपेक्षा कर दे तब तो वह मान आत्मा की ही बात करता रहेगा और मजिल तक पहुंचने के लिए साधन ही उसे कभी सीमावर्ध मिल सकेगा। दुनिया में कोई भी धर्म ऐसा नहीं हुआ जो धार्मिक विधि-विधानों की उपेक्षा कर सका हो। सुयोग्यता की विधि-विधान प्रकृतियां हैं धान-पूजा आदि, ये सभी धार्मिक विधि-विधानों के अन्तर्गत आ जाती हैं। ऐसी स्थिति में धार्मिक विधि-विधान कैसे मुक्त हो सकते हैं ?

आज की युवा पीढ़ी वर्तमान राजनीतिक और सामाजिक संदर्भों की देखकर



विचार-शील हो जाते हैं। धर्म-जीविता से हीव, राजकीय-अपराधों की कल्पना करना पड़ने लगे हैं। उनका चिकित्सात्मक वैचारिक बह-पीठी सन्तुष्ट से विचार-शोक की जाती है। अज्ञेय ज्ञान-अज्ञेयता की सलाह है जो उनके मानिक-प्रयोगों का समाधान है। धार्मिक विधि-विधान बनाने वाला हमारा सामु-ग्रही-पंडित धर्म-सांस्कृतिक-विकास के उसकी वास्तविकता को मले उतार सके तो निश्चित ही एक नया मार्ग खुलता। धर्म की धृष्टता-शून्य-विधि-विधानों को ब्रह्म-क्रियाकाण्ड कहकर कहते तो उनके विमुख हो जाते हैं और फिर धर्म की सीमा को ही खींच देती है।

परन्तु ब्रह्म-क्रियाकाण्ड सांस्कृतिक-तत्त्वों को समेटे रहते हैं। यह अवश्य है कि ये क्रियाकाण्ड कभी-कभी धर्म के मूल रूप से कटकर कुछ दूसरे ही मार्ग का रास्ता ग्रहण कर लेते हैं जिसे हम धर्म के वास्तविक स्वरूप से सम्बन्ध नहीं कर पाते। परन्तु यह तत्त्व तो हर धर्म के विकास के इतिहास के साथ जुड़ा हुआ रहता है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि इस प्रकार के तत्त्व धर्म होते हैं। अज्ञेय-तौर पर प्रतिष्ठा, मन्त्र-मृताभिषेक, सासन-देवी-देवताओं की पूजा (?) धार्मिक-तत्त्व-व्यापक की नयी पीढ़ी को धर्म की ओर आकर्षित कर सकते हैं और क्रिया-शील हैं। धर्म की ओर विशेष-लगाव नहीं है, वे भी इन साधनों के माध्यम से सामाजिक-विकास की ओर अपना कदम बढ़ाते हैं और सांस्कृतिक-विकास को मजबूत करते हुए धार्मिक-क्षेत्र में प्रवेश करते हैं। दूसरे शब्दों में इस-यह कह सकते हैं कि विधि-विधान, धर्म-के-पुनीत-मन्दिर के मन्दिर तक पहुंचने के लिए एक सुन्दर द्वार है जिसके बिना धर्म तक पहुंचना कठिन होता है पर इसमें भेद-विज्ञान, विवेक और नमक-धर्म पर-प्रधान-रखना-आवश्यक है।

इन सबके बावजूद यह अवश्य ध्यान रखा जाना चाहिए कि ये विधि-विधान साधन हैं, साध्य नहीं। प्रहिंसा, अपरिग्रह और सभ्यता के युद्ध-संघर्षों पर धर्म-व्यतिरिक्त का-साक्षात्-विश्लेषण-यत्न और व्यवहार-तत्त्व की समन्वय-व्यवस्था, पूरे ही जन-समाज को श्रेष्ठकर सिद्ध होगा। वैसे-ये-विकास-के-ही-परिणाम-हैं।

× × ×

आजकल समाज में एक ओर विवाह चल रहा है धर्म-अतीत-विवाह-हीनों-चाहिए-वा-नहीं। मैं-समझती-हूँ, ऐसे-सम्बन्ध-होने-में-कोई-बुराई-नहीं-है। प्रेम-के-मूल्यांकन-का-आधार-समय-समय-द्वारा-करता-है। प्राचीन-काल-में-विधि-वैध-सम्बन्ध-सांस्कृतिक-कठिनों-से-धार्मिक-बन्ध-तर्की-से-। इस-लिए-उन-की-व्यवस्था-कठिनों-के-ही-उत्प्रेक्षा-प्राचीन-धर्मों-में-मिलते-हैं-उन्हें-पढ़कर-हम-सम्बन्ध-इ-। महापुराण-और-कुबल-समाज-आदि-ग्रन्थों-में-सर्व-बाह्य-के-सर्व-विधि-हैं-जिन-में-विधि-वैध-सम्बन्ध-के-व्यापक-एक-सर्व-से-दूसरे-संघर्ष-में-व्यवहार-सर्व-। धर्म-आधार-के-साथ-धार्मिक-व्यवस्था-ही-व्यवस्था-करते

के। उनके न कोई सम्प्रदाय वेद रहता था और न कोई जाति की सीमा। बुद्धसमय का खेताम्बर व्यापारी विपिका के दिवम्बर परिवार से अपनी बुढ़ी का सम्बन्ध करवा और खेता का दिवम्बर जातिक जम्पुर के खेताम्बर आवक से अपने पुत्र का सम्बन्ध जोड़ता था।

इस सम्बन्धों से साम्प्रदायिक एकता बनी रहती थी। पारस्परिक विवाह बन्धनों, मृतियों प्रथवा उपाधियों के सम्बन्ध में अधिक कटुता नहीं रहा करती था। क्योंकि हर सम्प्रदाय परस्पर में किसी न किसी रूप में सम्बद्ध रहता था। विवाह साम्प्रदायिकताजन्य होते हैं और विवाहों से इस प्रकार की साम्प्रदायिकता टूटती है, विवाहों की जड़ स्वतः कट-खी जाती है और सम्बन्ध में मधुरता प्राप्ती है जो सामाजिक विकास के लिए आवश्यक है।

सामाजिक प्रगति के लिए एक और अन्य आवश्यक साधन है—आर्थिक प्रगति जिसकी सम्भावना इस प्रकार के विवाह-सम्बन्धों से और अधिक बढ़ जाती है। सम्प्रदाय प्रवेशगत भी होते हैं और हर प्रवेश के अपने-अपने स्वतन्त्र साधन होते हैं जिनपर उसका व्यापार निर्भर करता है। यह व्यापार विवाह सम्बन्ध के माध्यम से पारस्परिक धारान-प्रदान बढ़ाता है, आर्थिक क्षेत्र का विकास होता है और अमीरी-गरीबी के बीच की खाई को भरने के नये साधन सामने आ जाते हैं।

विवाहों की साम्प्रदायिक परिधि के टूट जाने से शिक्षा जगत को भी लाभ होना जिससे विभिन्न साम्प्रदायिक साहित्य का अभ्ययन-अभ्यापन बढ़ेगा। एक दूसरे के विद्यालयों में निःसंकोच प्रवेश होने से मानसिक सुरिययां सुलभेंगी, अलगाव दूर होतगा, कविषों व लेखकों को चिन्तन की नई सामग्री मिलेगी।

अध्यात्मिक प्रगति के क्षेत्र में भी इस प्रकार के विवाह सम्बन्ध उपयोगी होते हैं। हर जैन सम्प्रदाय की आध्यात्मिक प्रक्रिया कुछ न कुछ भिन्न रहा करती है। विवाह सम्बन्ध उनमें पारस्परिक समझ और सामंजस्य स्थापित करने जिससे अज्ञान का क्षेत्र विकसित होगा और व्यक्ति तथा समाज की प्रगति रात दिन बढ़ेगी।

ग्रन्थिक सम्प्रदाय के साथ उसकी संस्कृति बुढ़ी रहा करती है। जब विभिन्न जैन सम्प्रदायों में विवाह सम्बन्ध आरम्भ हो जायेंगे तो स्वभावतः संस्कृतियों में अन्तर्दान-अन्तर्दान होना और एक सम्प्रदाय दूसरे सम्प्रदाय के उपबोधी तर्कों को सह्य कर लेगा। लोकनृत्य, लोकगीत, लोकगाथ्य लोककथयें जैसी विवाह परिपुष्ट होंगी, संज्ञे की विकासगतता कम हीगी, और अनेक कुबुद्धियों का अन्त होंगा।

वहो यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि हर जैन सम्प्रदाय की संस्कृति किस



समने अपनी शक्ति को नहीं पहचानता तो न तो हम स्वयं उठ सकते हैं और न हीवतों की उठाने की क्षमता बनी रह सकती है। इसलिए सबसे प्रथम कर्तव्य यह है कि हम स्वयं की शक्ति को पहचानें। इस सूत्र के साथ हमारी ईमानदारी, हमारी नम्रता और हमारी प्रामाणिकता रहे तो जीवन कहीं और अधिक सुखान्वित बन सकता है। प्राणिसूत्र का कल्याण करने वाला यह जैन धर्म व्यक्तिनिष्ठ हीकर संभ्रान्तिनिष्ठता की बात करता है। इस दृष्टि से बालको के व्यक्तिगत विकास के लिए तथा समाज के इतर वर्गों के प्रभुत्व के लिए हमें अपनी जिम्मेदारी सँकनी होगी। पुरुष वर्ग का सहयोग लेकर यह कार्य अधिक सफलता पूर्वक ही सकता है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि हमारा भाषार-विचार कुछ धार्मिक और नीतिपरक हो।

×

×

×

नारी और पुरुष जीवन-रथ के दो पहिये माने गये हैं जिनके परस्पर साहचर्य और सहकार के बिना वह संसार-रथ पर शान्तिपूर्वक नहीं चल सकता। इतिहास में ऐसे अनेक उदाहरण हैं जहाँ ये दोनों वर्ग परस्पर मिलकर धर्मसाधना करते रहे, समाज सेवा में जुटे रहे और अपनी आत्मिक प्रगति करते रहे। पर यह बात भी किसी से छिपी नहीं है कि प्राचीनकाल में नारी का जीवन बड़ा कुण्ठित रहा है। साधारण तौर पर पुरुष ने नारी वर्ग को मात्र भोग्या माना और उसकी जन्मजात प्रतिभा को उन्मेषित करने के लिए कोई भी साधन प्रस्तुत नहीं किये। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे चाहते हुए भी कोई अस्वीकार नहीं कर सकता। नारी समाज ने जिन विकट परिस्थितियों में अपने जीवन को व्यतीत किया, वह विचारणीय है। उनका ख्याल करते ही हमारे रोमटे खड़े हो जाते हैं।

जहाँ एक प्रतिभा की बात है वह प्रायः सभी के पास होती है। लघोपलब्ध और हीनशक्तता, सुखार्थ का साधन और अनुकूल परिस्थितियों की निमित्त व्यक्ति के चरित्र को बनाने में विशेष कारण हुआ करती है। यदि समान रूप से अतिव्यक्ति के सम्बन्ध सभी को कुछ किये जायें तो कोई कारण नहीं कि व्यक्ति अपना विकास न कर सके। भगवान् महावीर के अनुसार सभी की आत्मा बराबर है चाहे वह स्त्री हो या पुरुष। आत्मा वे ही परमात्मा बनने की शक्ति विद्यमान है। अतः कोई भी आत्मिक विकास करके परमात्म धर्मस्था पा सकता है। उसमें लिंगभेद का प्रश्न ही नहीं। नारी अपनी धार्मिक शक्ति को पहचानकर अपनी उच्चतम विकास कर सकती है। नर की भाँति नारी में भी अत्यन्तशक्ति है, इसे धर्म कोई नकार नहीं सकता। लिंगभेद की अतिव्यक्तता शक्ति एकत्रित करने की आवश्यकता हो सकती है।

नारी में व्यक्ति की क्षमता होती हुए भी उसे अपनी व्यक्ति की स्वतन्त्रता नहीं दी गई। यह कारण है कि साहित्य, राजनीति, अध्यात्म आदि क्षेत्रों में पुरुष वर्ग के समान नारी वर्ग का उतना योगदान दिखाई नहीं देता। दुष्टि के प्रारम्भ से ही पुरुषों के समान नारी वर्ग की क्या साहित्य का सर्वेच नहीं कर सकता था, मर करशा कैसे? उसे तो मात्र घर का खिलौना बना लिया गया था। उसके पास बुद्धि-बलकी और पति को प्रसन्न रखने के प्रतिरिक्त समय ही कहा था? आज ये सारी परिस्थितियाँ और संदर्भ बदलते चले जा रहे हैं और पुरुष वर्ग महिला वर्ग को क्रमशः स्वतन्त्रता देता चला जा रहा है। देता क्यों नहीं? नारी आन्दोलन का उग्र रूप उसके सामने जो था। परिणामस्वरूप जब कभी नारी की अपनी प्रतिभा और शक्ति का प्रदर्शन करने का अवसर मिला, उसने उसका भरपूर उपयोग किया। यही कारण है कि आज हर क्षेत्र में महिलाओं का योगदान दिखाई दे रहा है।

आज के सन्दर्भों में हम जब महावीर की लाकर खादा करते हैं तो ऐसा संभव है कि महावीर बड़े क्रांतिकारी विचारक थे। उन्हें हम मात्र अध्यात्मसाधक नहीं कह सकते। उनके सिद्धान्तों की ओर ध्यान देने से तो हमें ऐसा लगता है कि जितना काम उन्होंने आत्म साधना के क्षेत्र में किया उससे भी कहीं अधिक समाज की संरचना में उनका हर सिद्धान्त आत्मचिन्तन के साथ आगे बढ़ता है और उसकी परिनिष्ठा समाज की प्रगति में पूरी होती है। इसे हम दूसरे शब्दों में कहें तो कह सकते हैं कि महावीर ने व्यष्टि के साथ ही समष्टि पर ध्यान दिया और भावश परिवार के निर्माण में अपने सिद्धान्तों की सही व्याख्या की।

महावीर के मूल सिद्धान्त अहिंसा को सभी जानते हैं। इस एक सिद्धान्त में उनके समूचे सिद्धान्त गभित हैं। परिवार को भावशमय बनाने में उनकी विशेष उपयोगिता देखी जा सकती है। परिवार का हर सदस्य यदि संकल्प कर ले कि वह किसी दूसरे के दिल को दुखाने का उपक्रम नहीं करेगा तो संघर्ष होने की बात ही नहीं आयेगी। वस्तु की यथातथ्य प्रस्तुत करना, एक दूसरे के अस्तित्व पर कुठौरा-घात न करना, आचरण में विमुद्धि बनाये रखना और भावशमयता से अधिक पचावों का संकलन न करना तथा सभी की दुष्टियों का समावर करना ऐसे तथ्य हैं जिन पर भावश परिवार की संरचना टिकी हुई रहती है।

महावीर ने आत्म-संयम की ही बात बड़े विश्वास के साथ कही। उन्हें कुछ विश्वास था कि आत्म-संयम ही एक ऐसा साधन है जो व्यक्ति-व्यक्ति के बीच द्वन्द्व स्थापित कर सकता है। नारी यदि आत्मसंयम की बात ग्रहण कर ले तो घर-घर में जितने कर्तव्य बचते हैं, उनका कबला बन्द हो जाय। नारी यदि कपनी और करनी

में झगड़ न रहे तो उसका सारा परिवार बिल उठे। फोफे, तुच्छता और ईर्ष्या का कहर न खावे तो परिवार का हर सदस्य सार्नजस्य के वातावरण में फूला न समावे।

महावीर ने कहा कि बंद से बंद की शांति नहीं होती, कितनी सुन्दर बात है। भाव प्रायः हम देखते हैं कि बुराइयाँ हमारी संकीर्णता के कारण होती हैं और वे संकीर्णतायें इतने बंदों को जन्म दे देती हैं कि उससे परिवार के सारे सदस्य जकड़ते ही चले जाते हैं, सुलभ नहीं पाते। यदि हम महावीर की बाणी का अनुगमन करें तो बंद के स्थान पर प्रेम का वातावरण प्रस्तुत कर सकेंगे जिससे परिवार विष-टम के कपारों से बच सकेगा।

जहाँ तक सुसंस्कार जाग्रत करने की बात है, यह उत्तरदायित्व विशेष रूप से महिलाओं का है। छोटे-छोटे बालको का जीवन-निर्माण उनकी माताओं पर निर्भर करता है। हमारी घादमनिष्ठा बालकों के सुकोमल जीवन को सही मार्ग की ओर प्रेरित कर सकती है। शारीरिक विकास की दृष्टि से बालकों के समझ भावशं महापुरुषों की जीवनी कहानी के रूप में बतलाकर उन्हें सुपथ पर भ्रमसर कर सकते हैं।

जीवन का स्वरूप मर्यादाओं का पालन करता है। जिस जीवन में मर्यादा नहीं वह जीवन की परिभाषा से बिलप स्थिति कही जा सकती है। नदी को मर्यादा के समान नारी का जीवन भी किसी प्रकार की मर्यादाओं से बंधा रहता है। उसे हर क्षण अपनी मर्यादाओं पर ध्यान देना आवश्यक है। यदि वह उन मर्यादाओं का उल्लंघन करके "माडर्न गर्ल" बनना चाहे तो परिवार को जलाशये बिना उसे शांति नहीं मिल सकती।

हमें परिवार को जलाना नहीं, बनाना है, धिटाना नहीं, उठाना है। इस स्थिति में पहुँचने के लिए नारी बर्न के हर प्रतिनिधि को अपनी शिक्षा पर विशेष ध्यान देना होगा। उसे शिक्षा के हर क्षेत्र में अपने पूरे पुष्पार्थ से भागे बढ़ना है। शिक्षा के बिना उसकी कोई गति नहीं। जहाँ गति नहीं, वहाँ जीवन नहीं। नारी को अपना जीवन सही रूप से जीना है। प्रसन्नता की बात है कि आज का नारी बर्न शिक्षा के क्षेत्र में पुष्प बर्न से कम भागे नहीं बढ़ा। इसका प्रमाण हमारी हर परीक्षाओं के परीक्षाफल हैं। वह शैक्षिक शिक्षा के साथ ही प्राध्यात्मिक शिक्षा की ओर भी कान्की बढ़ा हुआ है। परन्तु, नारी की कुछ अपनी समस्यायें हैं जैसे बहूज-प्रथा, परदा प्रथा, विधवा जीवन हत्यादि, जिनका समाधान हुए बिना उसकी प्रगति संभव नहीं दिखती।

इस प्रकार महावीर के नारी की बनेक समस्याओं पर संकीर्णतत्त्विक सोचा और प्रकीर्ण परम्परा के विरोध में उन्हें हीकर नारी की स्वातन्त्रता का दाम दिया। उनकी ही क्रांतिकारी विचारधारा के परिणामस्वरूप नारी पुरुष के कर्म से अलग भिन्नकर सम्भाव्य क्षेत्र में उतर सकी। इसे हम नारी शक्ति का आन्दोलन कह सकते हैं। महावीर ने नारी को प्रगति पथ पर लाने के लिए जो कुछ भी किया, वह अविस्मरणीय है और रहेगा। वह तब और सार्थक माना जा सकता है जबकि नारी बर्ष उसके बताये मार्ग पर चलेकर आदर्श परिवार की संरचना करे तथा अपनी आत्म-शक्ति को पहिचाने। साथ ही पुरुष वर्ग उसे अनुकूल वातावरण प्रदान करे। रथ के दोनों चक्र जब तक समन्वय की साधना नहीं करते तब तक परिवार में सुख और शांति नहीं हो सकती। प्रतिष्ठा और गज्जरथ महोत्सव जैसी प्रभावनात्मक धार्मिक शक्तिविधियां भी तभी सार्थक मानी जा सकती हैं जबकि हम महावीर भयवान द्वारा निर्दिष्ट मार्ग पर भलीभांति चलकर तृतीय विश्व युद्ध के कगारों पर लड़ी दुनियां को अहिंसा का शान्ति सन्देश सुनावें। अन्यथा निर्घनों के समय और पैसे का दुष्-पयोग तथा भ्रमधाम के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। नारी वर्ग इस लक्ष्य की प्राप्ति में निश्चित ही असनी महत्वपूर्ण भूमिका निभा सकती है।

इस प्रकार समतावादी और पुरुषार्थवादी जैन दर्शन नारी चेतना को पुर-स्कृत करने का पूर्ण पक्षपाती है। कुछ समस्याएँ ऐसी भी हैं जिन्हें समाधानित करने के लिए नारी को स्वयं ही कमर कसनी होगी। पुरुषवर्ग उसमें निमित्त भले ही बन सकता है। निमित्त-नमित्तक आचार लेकर जैन सिद्धान्त के अनुसार बस्तुतः नारी की आध्यात्मिक और व्यावहारिक समस्याओं का समाधान अन्वेषणीय है।

×

×

×

देश, काल और परिस्थितियों के अनुसार बस्तु और व्यक्ति को परस्पर के आपसपक्ष बदलते रहते हैं। एक समय था जब नारी बरेलु काच-काच में दम होने मात्र से 'आदर्श दुहिणी' समझी जाती थी लेकिन अब एक आदर्श दुहिणी बनने से ही नारी जीवन की इतिथी नहीं होती। उसे कुछ और धामे बढ़कर सोचने की आवश्यकता है।

मान के भौतिकवादी युग में मानव जीवन भय, संशय, कुंठा और विरागा से भरा हुआ है। लोगों में जीवन के प्रति कोई आस्था नहीं बिकसई होती। यह सब बदलते हुए संघर्षों का ही परिणाम है। ऐसी स्थिति में मान कृत्रिमता और सुख-दुख के प्रति मिः संघता का काच परिवार के सदस्यों में कृष्टिबीज हो रहा है। कथमः

बने: बर्ने: परिवार विघटित होते जा रहे हैं। विदेशों में पारिवारिक विघटन की प्रक्रिया तो स्वाभाविक कही जा सकती है परन्तु भारत जैसे सुसंस्कृत और शान्तिप्रिय देश में विघटन के मूल तत्वों को समूल नष्ट करना आवश्यक है।

नारी अनन्त शक्ति की स्रोतस्त्रिनी है और विविध-रूपा भी। पुत्री, पत्नी एवं माता के ममतामयी रूपों में उसका व्यक्तित्व प्रतिभासित होता है। इन सभी रूपों की भूमिका निभाने का तात्पर्य है एक बहुत बड़े उत्तरदायित्व को सन्हायना। शायद वह व्यस्तता भरे जीवन के कारण इन उत्तरदायित्वों को पूर्णतया निभाने में सक्षम नहीं हो पा रही है। इसीलिए परिवारों में विघटनकारी तत्व नजर आने लगे हैं। ऐसा लगता है, जब महिलाएं अधिक आत्म केन्द्रित होकर अपने कर्तव्य से विमुख होती जा रही हैं। इसे हम नारी शिक्षा या अशिक्षा का परिणाम कहें या परिस्थिति अन्य पर्यावरणगत विफलताएं, यह प्रश्न विचारणीय है।

इतिहास साक्षी है कि समय-समय पर नारी स्वातन्त्र आन्दोलन भगवान महावीर, महारमा बुद्ध, राजा राम मोहन राय, रामकृष्ण परमहंस आदि जैसे क्रान्तिकारी महापुरुषों और समाज सुधारकों द्वारा होते रहे हैं। उनके प्रगतिशील उपदेशों से प्रेरित होकर नारी बर्ने ने स्वयं में जागृति लाने का प्रयत्न किया। फिर भी उसमें अपेक्षित जागृति नहीं आ सकी। अपेक्षित जागृति लाने के लिए आधुनिक युग में भी अनेक आन्दोलन हुए। स्वतन्त्रता और समानता का अधिकार देने के उद्देश्य से अन्तरराष्ट्रीय महिला वर्ष भी मनाया गया। पर इन सबके बावजूद जो प्रगतिशीलता महिलाओं के व्यक्तित्व में समाविष्ट होनी चाहिए थी वह नहीं हो पायी। इसका प्रमुख कारण रहा-परिस्थितियों के अनुकूल उसकी शिक्षा-दीक्षा का अभाव।

परम्परागत शिक्षा नीति अपनाने से महिलाओं में अपने वैचारिक दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की योग्यता नहीं आ पाई। हाँ, आधुनिक का सुखीटा उसने प्रबन्ध भीड़ लिखा। बुर्जुआवक्ता वह शिक्षित होकर यूरोप और अमेरिका जैसे संवन्न देशों की नव युक्तियों का अनुकरण करने लगी। पर वे सब काम हमारी समाज में हमारी नारतीय संस्कृति के अनुकूल बैठते हैं या नहीं, इस प्रश्न पर तनिक भी विचार नहीं किया।

अब आवश्यकता है अनुकरण को रोक कर परिवारों को समायोजित करने की, शिक्षितियों और शिक्षारक्षकी प्रवृत्तियों को रोकने की, तथा कुटा, सव और उत्पीड़न से निमुक्त होने को। बिका इसके वह अपने कदन प्राये नहीं बचा सकती। प्रायः आनन्द भस्मट नोकर भी अज्ञेय की शीघ्र नहीं से पाठा। उसे समझ



में अपने परिवार को समस्त रक्षित करने के लिए उनके सम्पत्ति और आर्थिक जीवन की व्यवस्था करना ही उनकी प्रथम और प्रमुख जिम्मेदारी है। अतः समाज के अन्दर ही परिवार के अर्थिक जीवन पर ध्यान देना ही आवश्यक है। अतः समाज सभी तत्त्वों को समर्थनीय और समस्त शिथिल नारी में होने की आवश्यकता है। यद्यपि सामाजिक और राजनीतिक प्रतिकारों की जानकारी के प्रतिरूप, अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों की जानकारी भी परभावयक है।

महिलाएं अपने सख्त स्वभाव, कर्मठ कार्यक्षमता, व्यवस्थित संबोधनशीलता तथा आरंभिक शिक्षणसनीयता से समाज और परिवार के विभिन्न घटकों में परस्पर सौहार्द और सौजन्य का वातावरण बना सकती हैं। पुरुष वर्ग स्वयं उस सिद्धांत में वातावरण से प्रभावित होकर पारिवारिक उत्तरदायित्व में पूरी सम्मति के साथ जुट जायेगा, परंतु कार्यों में सहाय्य बढ़ाकर संसार की शिक्षा-बीजा में भरपूर साथ देना तथा महिलाओं को भी धामे बढ़ने, प्रगति करने और अपनी प्रतिभा को स्वकलित करने का पूरा अवसर प्रदान करेगा।

वस्तुतः बालकों में उत्तम संस्कारों के निर्माण करने, परिवार को एकजत्र बनाने और संतान को सुशिक्षित करने की जिम्मेदारी महिलाओं की अपनी है। संस्कारों का बचन-बिचन सामाजिक वातावरण पर निर्भर करता है। किन्तु सर्वाधिक उत्तरदायित्व माता के रूप में नारी पर ही है क्योंकि पुत्र को विलम्ब आरंभिक के निमित्त प्रायः घर से बाहर रहते हैं। बालकों को जीवमोक्षदीपी शिक्षा देने तथा उनके दैनिक क्रिया-कलापों की देख रेख करने का मुख्य भार भी उनके ही कंधों पर रहता है। इसीलिए उन्हें छुट्टियाँ कहा गया है। "यद्यपि नमस्तु पूज्यन्ते यद्यन्ते तत्र देवताः" बाला कथन महिला के महत्त्व को स्पष्ट द्योतित करता है।

महिलाएं ही परिवार के प्रत्येक सदस्य के बीच पारस्परिक सम्बन्ध का भाव जाग्रत करके दो पीढ़ियों के बीच सम्बन्ध स्थापित कर सकती हैं। वे अपनी सहज वृद्ध-वृद्ध, सहानुभूति, सहिष्णुता, और सद्भावना जैसे भाव्य गुणों द्वारा नई और पुरानी पीढ़ी के बीच वैचारिक दृष्टिकोश में अन्तर्गत के कारण से बराबर पड़ जाती हैं उसे पाठ सकती हैं। परिवार में विषय-प्रायः सप्त और बहू दन धोनुसखी और नई पीढ़ी में अन्तर्गत होने के कारण ही होते हैं। ऐसे समय पुरानी पीढ़ी की महिलाओं को जो आज समाज के रूप में हैं, सोचना चाहिए कि वे अपनी कमी को भी। इस विषय में अन्तर्गत अन्तर्गत स्वरूप और अन्तर्गत रूप से अन्तर्गत अन्तर्गत। साथ ही सामाजिक वातावरण में नई-नयी अन्तर्गत के कारणों से अन्तर्गत और

प्रादर्शकता का तात्पर्य का निर्वाह कर स्वयं को उसमें आत्मसात कर देना चाहिए। कृषि और आधुनिक शिक्षित महिलाओं की भी पुरानी पीढ़ी के पारिवारिक कर्तव्यों के प्रति सम्मानास्पद भाव रखकर अपने धर्मको बरतते आत्मसात के अनुकूल बनाने का भी प्रयत्न करना चाहिए। इस प्रकार दोनों पीढ़ियों के द्वारा सम्मानास्पद कृषि-कोण अपनाते से महिलाएं परिवार और समाज के विषयों को बचा सकती हैं।

पारिवारिक विषयों में आर्थिक विसंगति भी एक कारण होत है। शिक्षित महिलाएं सुरक्षा जैसी बड़ती मंहमाई के इस युग में परिवार के सदस्यों को मौखिक ढंगसे उत्तम प्रकार के सेवों में संलग्न करके आर्थिक सहयोग भी दे सकती हैं। पर यह तथ्य भी बड़ा वृष्टिभ्रंश है कि कतिपय शिक्षित महिलाएं, विशेषतः नौकरी-पेशा वाली, पारिवारिक विषयों में कारणभूत बन जाती हैं। इस कथ्य की वृष्टिभ्रम की ओर यदि हम वृष्टिपात करें तो यह पायेंगे कि जो पुरुष या महिलाएं अर्ध-शिक्षित रहती हैं, उनमें ज्ञान की सम्भरता का आभास न होने से अहं-मन्यता छा जाती है। पर जो महिलाएं पूर्णतया शिक्षित रहती हैं और निरन्तर अपने को आगे बढ़ाने में प्रयत्नशील रहती हैं, उनमें प्रायः अभिमान की भावना नहीं रहती। ऐसी ही महिलाएं आर्थिक सहयोग प्रदान कर अपने परिवारों को समायोजित कर सकती हैं।

नई पीढ़ी भौतिक विकाश में गुमराह हो जाती है। उसे अपने प्रादर्शकता जीवन की प्रस्तुति के माध्यम से बचाया जा सकता है। इसके लिए बदलते मानव शक्तियों के अनुकूल ढंगसे आत्मसात करना आवश्यक होगा। यदि परिस्थितियों से बचने की क्षमता, धर्म और सहनशीलता जैसे सहज-स्वाभाविक गुण उनमें पुनर्निर्मित हो जायें तो परिवार अलीभारित समवेष्टित बने रह सकते हैं। ऐसी नारी जिनसेनाचार्य के शब्दों में उल्लेखनीय बन जाती है—

विद्यावान्, पुरुषो लोके सम्मुतिं याति कोविदः ।  
नारी च सद्यती यत्ते, स्त्री सृष्टेरग्रिमं पदम् ॥

आध्यात्मिकता जीवन का सौन्दर्य है। आर्थिक और सामाजिक कर्तव्य उसके सुनभित्त पुष्प हैं। अधिकार में पिरोयी हुई ऐसी क्षमता उसके गले की माला है। इसीलिए शिक्षा के साथ देखा आर्थिक आत्मसात आवश्यक है जिसमें बुधिमत्ता, अक्ष-कपट, आत्माचार्य की पुस्तकता न हो। झूठ जीवन और आधुनिक जीवन यदि हमें ही बचा दिये जायें तो होशियार से भी पारिवारिक सदस्यों को बचाकर उनके स्वस्थ की रक्षा भी जा सकती है, आर्थिक कर्तव्य ही ही है।

अर्थ के प्रति नारी का अतिवृत्त वहीव की वैश्वी है जिसमें प्रवेश करते ही व्यक्ति की मानवता कसकित होने से नहीं बच पाती। इसका कुपरेखाम बितना कुर्वा महिला की शोचना पड़ता है उतना और दूसरे को नहीं। जीवन के इस केन्द्र को बड़े साहस, धैर्य और विवेक से समाप्त करना होगा। कान्ति करनी होगी। हृदय परिवर्तन करना होगा। शिक्षा के प्रचार-प्रसार से इस प्रकार की कुप्रथाएँ खत्म होने से समाप्त होती चली जाएँगी।

“अधसा जीवन हाय सुन्दारी यही कहानी” कह कर राष्ट्र कवि मैथिलीशरण गुप्त ने नारी जीवन की विचित्रता की ओर इंगित किया और “आँसु बें है खूब और आँसु में पानी” कह कर ममता तथा सहिष्णुता जैसे स्वाभाविक गुणों की ओर संकेत किया। इन दो पंक्तियों में कवि ने समूची नारी को प्रस्तुत कर दिया है। परिस्थितियों से घुटने टेक देने का भी कारण कदाचित् उसकी ये ही स्वाभाविक वृत्तियाँ हैं। पुरुष की अहमन्यता के साथ उनकी टकराहट होती है और परस्पर द्वन्द्व प्रारम्भ ही जाता है। नारी को ही अन्ततः उत्सर्ग की ओर अपने कवम धार्य बढ़ाने पड़ने हैं। कामायनी के प्रमुख पात्र अट्टा-मनु का चरित्र विकास कदाचित् इसी तथ्य को प्रस्तुत करता है।

नारी ने सांसाजिक उत्कर्ष में सदैव हाथ बढ़ाया है। राष्ट्रीय चेतना को भी उसने खूब जाग्रत किया है। पन्ना, धाय, पद्मिनी, लक्ष्मीबाई के उत्सर्ग को कौन मुला सकता है? सीता, सुलोचना, अजना, राजुल, चन्दन बाला, विजय कुला, हेमश्री, महतरा, पद्मश्री, मैना सुन्दरी प्रभृति नारियों के उज्ज्वल उदाहरण भी उसके साथ हैं। मार्गी, मैत्री, लोपामुद्रा, ब्राह्मी, सुन्दरी के आदर्श जीवन उसके मुख्य सूत्र हैं। निर्गुण धारा की कवित्रियों में दया बाई, सहजो बाई, उमाबाई, गवरी बाई आदि तथा सगुण धारा की कवित्रियों में मीरा बाई, लखकुंवरी बाई, कन्नकला बाई, प्रताप कुंवरी बाई आदि प्रमुख ऐसी महिलाएँ हुई हैं जिन्होंने अपने पवित्र जीवन पर आचारित साहित्य-सृजन से सारे समाज को आकृष्ट किया है।

उपरोक्त तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि महिलाएँ परिवर्तित परिस्थितियों में भी अपने परिवार और समाज को सुसंरक्षित रख सकती हैं और राष्ट्रीय एकता को कायम कर भारतीय संस्कृति को समृद्ध करने में योगदान दे सकती हैं। राजनीतिक, सांस्कृतिक, आध्यात्मिक, आर्थिक और वैश्विक दृष्टिकोणों की स्वस्थ व सुसंस्कृत मनोवृत्ति की दृष्टि से आज महिलाओं के ऊपर विशेष उत्तरदायित्व धारण है। यदि उसमें नारी चेतना और आत्म शक्ति जाग्रत हो सके तो इस उत्तरदायित्व को वह बड़ी सुव्यवस्था पूर्वक निभा सकती है। “नारी शक्ति का प्रतीक

है—एक समय को आज हमारा हाथ-पैर बंधी रूप में उपस्थित होता हुआ देखना चाहता है। मादो, हम अब एक कद होकर इस शक्ति को प्रायश्चित्त ।

×

×

×

जब राष्ट्रवासी अष्टाक्षर-की बात विषय में कीवनी है तो बरकत ही ब्रह्म कराह उठता है सब कुछ कह देने को । लगता है जैसे एक कंठ मित्रप्राप्ति की तरह उसे न निगला जा सकता है और न उमला जा सकता है । उमलने से सचाई सामने भायेगी जो बिभूय दिखेगी । और नियन्त्रा इसलिए नहीं जा सकता कि इसको पचाया जाज की आवश्यक प्रयत्नशील नाही के लिए सरल नहीं होगा । प्रकृतिक वृष्टि से निगलने की प्रमेया उगलना निश्चित ही बहुत होता है ।

आज ग्राम भादमी औराहे पर खड़ा है । जैसे वह चक्रव्यूह में फंस गया हो । जिस रास्ते पर भी वह वृष्टिपात करता है वह उसे स्वच्छ और उन्मुक्त नहीं दिखाई देता । तत्कालित पथिक महाजन रिन की टिकियां से धुले प्रब्र वस्त्रों से ढके प्रब्र-भ्य दिखते हैं पर उनके कृष्णों को उधाड़ा जाये तो जनसे अधिक कृष्ण वर्ण का कोई और नहीं मिलेगा । ऐसे ही 'बमुला भगत' नेताओं से आज का समाज संभस्त ही गया है । उनकी कथनी और करनी में कोई एकरूपता नहीं । हर क्षेत्र इस केंसर से बुरी तरह पीड़ित है । आप्रत्यं यह है कि हर भादमी जानता समझता हुआ भी इसे थिर पर लावे बेतहासा पीड़ रहा है । उसे सुनने को भी फुस्सत नहीं । कदाचित् इसलिए कि कही उस दीड़ में वह पीछे न हट जाये । मात्र 'बलता है' कहकर वह प्राने बड़ काता है ।

पर इतना कहने मात्र से क्या होगा ? यदि हमने इस उलझन भरे सदास पर निःसन्न-भ्रम नहीं किया तो समाज में घटकाव बढ़ता ही जायेगा । उसे जिससत से बचने के लिए कोई आशय नहीं सिद्धेगा । अतः आज प्रायश्चित्त है उस निरूपता को सचाय्य करके सौख्य लाने की और यह सौख्य जीवन-रथ का दूसरा पहिया भी जा सकता है । अर्थात् महिलाएं विषमता में समता और सौख्य लाने का कार्य को सुप्रसन्न, सचमता और सहृदयता के साथ कर सकती हैं । उनकी प्रकृतिगत कोमलता और मातृत्व शक्ति परिवार को तरा-भरा करते से तभी प्रचूक स्थित हो सकती है । कुछ व्यावहारिक कठिनाइयां, अकाल प्रायश्चित्त पर उन्हें अपने सरल और सहृदयत्व स्वभाव से हलकर सार्थ करे, निरर्थक बताया जा सकता है ।

असल है, राष्ट्र में कोई और प्रकृति-संज्ञ की तरह, बड़े, बुरा, की-प्रति उनके अष्टाक्षर-के प्रति क्या कठिनायें, निष्प्रेषण नहीं है ? क्या उनकी प्रकृति-संज्ञ



इस संदर्भ में यह हमें यह सीखना आवश्यक हो जाता है कि पुरुष वर्ग के इस नैतिक पतन में क्या हम उत्तरदायी नहीं हैं ? हमारा भूक भव निश्चय हो जाने पर निश्चित ही बोध उठेगा विवेचात्मक स्वर में । निकल उठेगी श्रवण्य वाली "हम भी इस नैतिक पतन में कारणभूत हैं ।" चिन्तन की यही क्षणिका जीवन में परिवर्तन ला सकती है ।

अस्तुतः वह धातुनिकता भी किस काम की जो हमारे आत्मीयजनों को भ्रष्टाचार के मार्ग पर झक्झ कर दे, राष्ट्र को पतन के गर्त में फेंकने का भाव प्रकट कर दे, आन्तरिक बौन्दर्य को भट्टियामेट करने का बीड़ा उठा ले ? कहीं गया हमारा वह भारतीय जीवन दर्शन जिसमें ग्रहिसा और अपरिग्रह की गौरव गाथाएं बुड़ी हुई हैं, सन्तोषी इति को सहजता पूर्वक अपनाने पर बल दिया गया है, चात-प्रति-चातों को शान्ति पूर्वक सहन करने का आह्वान भी है ।

हमारी आध्यात्मिक विचारधारा का अबलम्बन ले रहे हैं पाश्चात्यवासी और एक हम हैं कि अपनी ही पवित्र धरोहर को समाप्त करने पर तुले हुए हैं, और भौतिकवादी दृष्टिकोण अपना रहे हैं, पाश्चात्य सम्यता की जूठन का अन्धानुकरण कर रहे हैं । जैसा हम जानते हैं, भौतिक सुख-समृद्धि के धातुनिक साधनों से वास्तविक सुख और शान्ति नहीं मिल सकती । जितना हम भोगते जाते हैं, उतनी ही हमारी चाहें बढ़ती जाती हैं । उनकी प्रपूर्ति हो जाने पर मन प्रसन्न श्रवण्य हो उठता है पर वह प्रसन्नता क्षणिक होती है, आभास मात्र होती है । अनैतिकता के दलदल में पनपा पेड़ कहां तक हरा भरा रहेगा ?

भारतीय संस्कृति इसीलिए अध्यात्म पर जोर देती है, जीवन को लक्ष्यता से देखने का आह्वान करती है, और नैतिकता को आन्तरिकता के साथ जोड़ने का पुरजोर समर्थन करती है । यहां मेरे कहने का यह भी तात्पर्य नहीं कि हम एकदम बिभुद अध्यात्मवादी बन जायें । अध्यात्मवाद तो वास्तविक जीवन का अमिष धर्म है, एक स्वाभाविक संघटना है । बिभुदता की स्थिति तक पहुंचने का यथाक्रम प्रयास ही सफलता का सही साधन बन सकेगा ।

भ्रष्टाचार पनपाने में जहां हम कारणभूत हैं वहीं उसके उन्मूलन की जिम्मेदारी भी प्रायः की विषय परिस्थिति में हमारे शिर पर है । हम सीमित प्राय के दायरे में अपने संयमित जीवन को सीमित इच्छाओं के माध्यम से सुखद बना सकते हैं और लक्ष्योन्मूलन की तरह बढ़ने वाले संक्रमक इस दूषित आचार-विचार को फैलाने से रोक सकते हैं । हमारी अहं भूमिका प्रायः की कामावाजारी, भिलावट, घूसखोरी आदि जैसी विचार्य बरकातों को दूर करने में सहस्रपूर्ण पाठें श्राव कर सकती है । अतएव हम अक्षरक्षीवारी से निकलकर दुस्वार्थ के मार्ग को अपनायें और नैतिकता तथा आध्यात्मिकता से शिष्य जीवन को प्रकट बनाने में अपनी प्रतिष्ठा और स्वाभाविक शक्ति का यथासम्भव प्रयोग करें । नारी भूमिका का आन्वेषण कुशलतापूर्वक

मना है। हमें स्वयं का पुनर्जागरण करना होगा और व्यक्ति तथा समष्टि में साम्प्रदायिक चेतना को जाग्रत कर जीवन को सही दिशा पर माना होगा। स्वल्प मात्रापरण में फलदा-कृतता जीवन का अनकड़ा अमलना पृष्ठ एक दिन प्रकल्प महक उठेगा। इस आत्म के साथ हम अपनी बहियों से इस विचार-विन्दु पर लम्बन करने का विनम्र आह्वान करते हैं।

×

×

×

इन जिन सारे विन्दुओं पर हमने झुटपुट चर्चा की है वे सब नारी जीवन को आन्वेषित करने वाले हैं। जैन संस्कृति की मूल आत्मा में नारी को कहीं दुकराया नहीं गया बल्कि उसकी शक्ति को पहिचाना गया, पहिचानने के लिए प्रेरित किया गया। परन्तु उत्तरकाल में परिस्थिति-बन्ध उसकी व्याख्याएं परिवर्तित होती रहीं और नारी के व्यक्तित्व के हर कोने पर डेरों बर्फ की मोटी परतें लगा दी गईं। जाग्रत चेतना को हठात् या बलात् प्रज्ञानता का बातावरण लेकर उसे सुप्त कर दिया गया। गृहारीवारी के भीतर उसे मान्य प्रलंकार का साधन बना दिया गया। दूसरों के निर्णय पर उसका जीवन तैरने लगा, नाव डेबट कोई और रहा। वह बाग पुतलीवत् बँधा ही गई। उसी पुतली की अन्विकार में माने के लिए इतिहास में न जाने कितना खून बहा है और नागों के सिन्दूर से कवियाँ रक्षित हुई हैं।

अब समय कुछ पलटा जा रहा है जहाँ नारी की सुप्त चेतना को जाग्रत होने का बातावरण उपलब्ध होने लगा है। अब तो वस्तुतः उसकी अस्मिता का प्रकल है। उसे तो हर सड़ी पुरातन परम्परा को विद्रोह के सही स्वर में झूलसा कर प्रकल के चरणों को प्रकल करना है। जैन संस्कृति की साम्प्रदायिक चेतना इस स्वर को संयमित करेगी और उसे विद्रोह की कठोरता तथा असाधारणिकता के अहंन्य कर्तव्यों को तहस-तहस कर विन्दु और सामाजिक तथा नैतिक तत्त्वों से जोड़े रखेगी, ऐसा हमारा विश्वास है। पारंपारिक सम्बन्ध के हूबित रंभ ने यदि नारी समाज को रंजीला बना दिया तो 'पुनर्जागरण' की कथा अरिताई होने में भी अधिक समय नहीं लगेगी। यह संक्रमण की अवस्था है जहाँ नारी की स्वयं की शक्ति उसकी गर्भ चेतना उसके विवेक पर प्रतिष्ठित होगी है। गृहारीवारी की बसली उस विवेक को स्वयं संयुक्त बनाने के लिए पर्याप्त है जहाँ उसे सही दिशा में समझ-समझना चाये। गृहारीवारी का "प्रथम गालं तमो कथा" सून गहिला गर्भ के जीवन की आन्वेषित करने वाला सिद्ध होगा। ज्ञान और चारित्र के उज्ज्वल क्षेत्र में बढ़ने से सात्म-निर्भरता, सह-अस्तित्व, संभव और सम्भाव की चेतना विकसित होगी और व्यक्ति से समष्टि तक वैदिक और साम्प्रदायिक चेतना के नये कालान्तरण प्रकलित होंगे।

